पुस्तक-वार्ता

अंक : 48-49, सितंबर-दिसंबर 2013

संरक्षक संपादक - प्रो. गिरीश्वर मिश्र
कुलपति

संपादक - राकेश श्रीमाल

परामर्श - प्रो. सूरज पालीवाल

प्रकाशकः
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स,
वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
Website : www.hindivishwa.org

संबंधित लेखकों द्वारा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र वर्धा (महा.)

एक अंक : रु 20

वार्षिक सदस्यता : रु 120

चेक/ड्राफ्ट कमीशन जोड़कर वार्षिक रु. 145 और द्व वार्षिक रु. 265 म.गां.अं.हिं.वि, वर्धा को भेजें। मनी. आर्डर स्वीकार्य नहीं।

पत्रिका का वितरण अब दिल्ली से होता है। पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें : रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 01, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032, (मो.09212796256)।

सज्जा और कैरीकेचर - विनय चाणेकर
टंकण सहयोग : रामबरन

संपादकीय संपर्क :9764495276
ईमेल : shubhshubh2012@gmail.com

प्रबंध, बिक्री और वितरण केंद्र :
प्रकाशन विभाग :
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
फोन : 07125-232943

PUSTAK - VARTA
A Bi-monthly journal of book Reviews in Hindi
published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi
Vishwavidyalaya, Post- Gandhi Hills,
Wardha- 442005 (Mahrashtra)

छपाई : रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032
email : ruchikaprinters2005@gmail.com

अनुक्रम

पाठ दृष्टि : नामवर सिंह से महावीर प्रसाद की बातचीत 4

पुस्तक और मैं : किताबों के कितने अहसान मानूं ? / प्रेमपाल शर्मा 7

कविता : अदृश्य प्रार्थना जैसी अनुगूँज / ओम निश्चल 10

पर्यावरण : टेढा लड्डू घी का / अरविन्द मोहन 12

कथा डायरी : पीली शब्दावली के रहस्यों को बेनक़ाब करना / शंभू गुप्त 14

निबंध : साहित्य चिन्तन पर कुछ सवाल / वीरपाल सिंह यादव 16

आलोचना : गंभीर उदाहरणों का दस्तावेज / पल्लव 19

पास-पडोस : पुख़्ता होती खतरनाक प्रवृत्ति / पंकज पराशर 20

शायरी : शहरयार का जिंदगीनामा, शायरी का सफरनामा / ज्ञान प्रकाश विवेक 22

सिनेमाः अपु के बहाने सिनेमा समझने की कोशिश / विनोद अनुपम 24

कला : कला चहलकदमी की विलोमता / मनीष पुष्कले 26

अनुवाद : अनुवाद में भी जाति / प्रकाश चंद्रायन 27

वैश्विक विमर्श और हम : समकालीन साहित्य-चिंतन : एक सर्वेक्षण / विनोद शाही 29

पढ़ाई लिखाई : इतना थोड़ा सा बचा रहेगा कि पूरा हो जाएगा / विनोद कुमार शुक्ल 32

प्रकाशन चक्रव्यूह : हिंदी समाज की विडंबना / प्रांजल धर 34

डायरी : छोटा टाइगर, बड़ा हौसला / अनंत विजय 35

प्रवासी लेखन : प्रवासी महिला रचनाकारों के पुरूष पात्र / विजय शर्मा 37

शख्सियत : दीप्त होता पाठक / मनोज मोहन 40

कविता : बदलते परिदृश्य के साथ क़दम ताल करती कविताएं / जितेंद्र बिसारिया 41

डायस्पोरा विशेष : भारतीय डायस्पोरा में स्त्रियां / विजय कुमार झा 43

डायस्पोरा विशेष : 'शिंडलर्स लिस्ट' का अर्थ / विनोद भारद्वाज 44

डायस्पोरा विशेष : भारतीय डायस्पोरा / प्रशांत खत्री 46

समाज चर्या : स्वर्ग के बच्चे चिता के बच्चे / प्रो. रामशरण जोशी 48

मेरी शाम : जो बच गया हूँ, वह हूँ / कुमार अम्बुज 50

मेरी टेबल : कागज़-कलम-दवात के बहाने / राजेंद्र यादव 52

मेरे सिरहाने : मेरा सिरहाना खाली-खाली है / अनामिका 53

पढ़ते हुये : इन दिनों / अखिलेश 54

मेरी प्रिय दुकान : मेरी प्रिय दुकान / बसंत त्रिपाठी 55

मेरे जीवन का डर : पुस्तकें हमारे जीने की वजह बनती गई / रजनी गुप्त 56

पाठ संस्कार : 'ढाई आखर प्रेम के' / प्रहलाद सिंह टिप्पाणियां 57

जो अभी पढ़ा : एक कस्बे के नोट्स / ममता कालिया 58

विवेचना : अस्मिता की तलाश और जीवन संघर्ष / पुष्पपाल सिंह 59

उपन्यास : दौड़ : भूमंडलीकरण के प्रभावों की पड़ताल / डॉ. सीमा शर्मा 63

इतिहास के झरोखे से : हिंदोस्थान / रामनिरंजन परिमलेंदु 65

पुनः पाठ : काहे को ब्याही बिदेस रे ... / गोपाल शर्मा 69

धरोहर : मेरी रचना प्रक्रिया : तीसरी काया / शमशेर बहादुर सिंह 71

विशिष्ट : किताबों के आवरण पर टिप्पणियां : ओरहान पामुक / मनोज पटेल 72

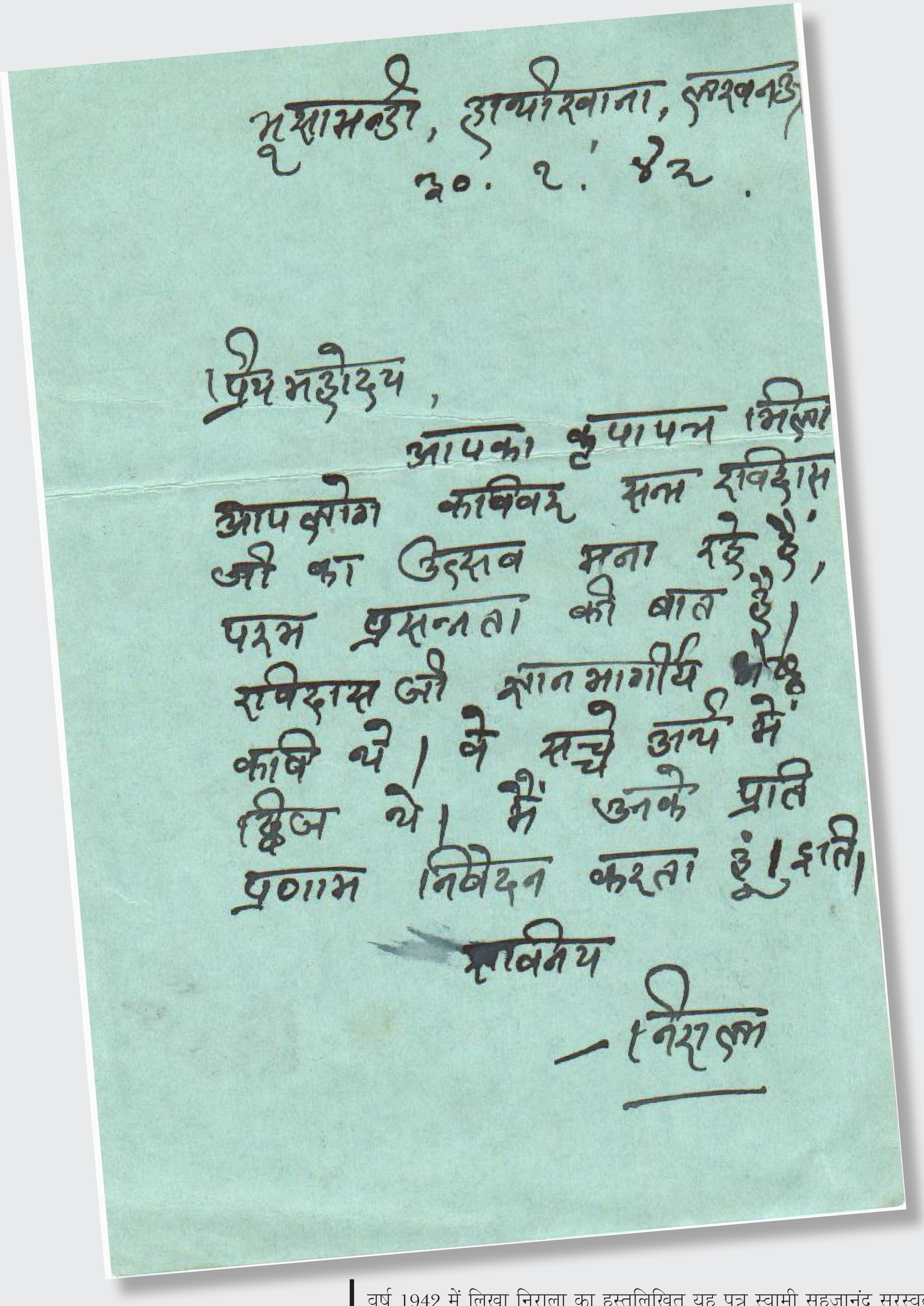
भूसामण्डी, हाथीखाना, लखनऊ
३०. २.' ४२.

प्रिय महोदय,
आपका कृपापत्र मिला।
आपलोग कविवर सन्त रविदास जी का उत्सव मना रहे हैं, परम प्रसन्नता की बात है। रविदास जी ज्ञानमार्गीय श्रेष्ठ कवि थे। वे सच्चे अर्थ में द्विज थे। मैं उनके प्रति प्रणाम निवेदन करता हूँ। इति।

सविनय
— निराला

वर्ष 1942 में लिखा निराला का हस्तलिखित यह पत्र स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय महात्मा गांधी अंतराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

संपादकीय

ईश्वर अगर कहीं है तो वह पुस्तकों के वैभवशाली संसार से जरूर ईर्ष्या करता होगा, पुस्तकों के इस संसार में जैसे ही कोई पहुंचता है अपने आपको अलग पाता है। पुस्तकों में रची-बसी शब्द संस्कृति को टोहती, टटोलती, यह पत्रिका थोड़े नए कलेवर के साथ आपके समक्ष प्रस्तुत है। पत्रिका का यह अंक अपहिरहार्य कारणों की वजह से विलम्ब से प्रकाशित हो रहा है, जिसके लिए हमें खेद है।

किसी पत्रिका का कुछ वर्षों के अंतराल के बाद फिर से संपादित करना मेरे जैसे व्यक्ति के लिए किसी चुनौती से कम नहीं है। एक तरफ केंद्रित विषय-वस्तु (पुस्तक चर्चा) को विभिन्न स्तंभों के द्वारा लगभग पाठ रसास्वादन के लिए प्रस्तुत करना और दूसरी तरफ अति जरूरी विषयों और अनुशासनों की पुस्तक समीक्षाओं को उनके ही समय के साथ आप पाठकों तक पहुँचाना है। एक दांव तो पत्रिका के संपूर्ण आकल्पन के बदलाव को लेकर ही होता है।

यह पत्रिका भारत सकार द्वारा मनाए गए 'पुस्तक-वर्ष (2001) से प्रारंभ हुई थी। उस पुस्तक वर्ष को अपनी औपचारिक समय सीमा से बाहर यह पत्रिका अपने तरीके से अनवरत मना रही है। हिंदी में पुस्तक समीक्षा पर केंद्रित यह पत्रिका एक मात्र नहीं तो, विशिष्ट जरूर है। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा इस पत्रिका का प्रकाशन इसे और अधिक उत्तरदायी बनाता है।

मेरे पूर्व संपादक श्री भारत भारद्वाज के द्वारा संपादित अंकों ने इस पत्रिका को गरिमा प्रदान की है। उन्हें इसका शुक्रिया करना इस पत्रिका के परिवार के वरिष्ठ सदस्य का नम्रता से आभारी होना भी है। मैं उम्मीद करता हूं कि भारत जी अब इस पत्रिका में लिखते हुए अपने पाठकों से फिर-फिर मिल सकेंगे।

इसी अंक से हमारे कुलपति महोदय प्रो. गिरिश्वर मिश्र 'संरक्षक संपादक' की मार्गदर्शक भूमिका में हमसे जुड़ रहे हैं। उनका रचनात्मक परामर्श इस पत्रिका को अधिक महत्वपूर्ण बनाने में योगदान देगा।

इस पत्रिका को एक आदर्श और परिपूर्ण पत्रिका बनाने की चेष्टा के लिए समीक्षकों, स्तंभ लेखकों, पाठकों, प्रकाशकों और शुभचिंतकों के प्रति आभार।

■ **राकेश श्रीमाल**

पाठ दृष्टि

■ आलोचक नामवर सिंह से महावीर अग्रवाल की बातचीत

हजारी प्रसाद द्विवेदी के साथ नामवर सिंह

पुनर्नवता द्विवेदी जी के साहित्य का बीज मंत्र है

कई बड़े कवियों पर महावीर अग्रवाल ने स्वत्रंत पुस्तकें लिखी। छत्तीसगढ़ लोक नाट्य और पंडवानी पर व्यापक काम। हबीब तनवीर पर भी एक पुस्तक। पिछले तीन दशकों से 'सापेक्ष' पत्रिका का संपादन। दुर्ग (छत्तीसगढ़) में रहते हैं। संपर्क : 0788-2210234

■ गुरुवर द्विवेदी जी पर बातचीत करते हुए (हिंदी दिवस 14 सितम्बर 2007) भिलाई में आपने कहा था, ''एक सार्थक रचना वह होती है, जिसमें जितना कुछ कहा जाता है, उतना ही अनकहा भी रहता है।'' और यह विशिष्टता गुरुदेव के उपन्यासों में और निबंधों में साफ दिखाई देती है।

आज आपने बहुत सही बिंदु पर बातचीत शुरू की है। रचना वही बेहतर होती है, जो धीरे-धीरे अपने आपको व्यापक परिप्रेक्ष्य से जोड़कर अर्थ को खोलती चले। कबीर इसके बहुत बड़े प्रमाण हैं, आज छः सौ साल बाद भी कितना अनकहा रह गया था उसे हम सुन रहे हैं, हमारा पूरा समाज सुन रहा है, समझने की कोशिश कर रहा है। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी कहते हैं, "दूसरे भी छन्द लिखते हैं, पर उन छन्दों में प्राण नहीं रहते, उनमें मनुष्य बनने की ओर जानने की प्रेरणा नहीं होती, और यह गाँठ बाँध लीजिए कि जिस काव्य, नाटक या उपन्यास को पढ़ने से मनुष्य को अपने छोटे और संकीर्ण स्वार्थों के बंधन से मुक्त होने की प्रेरणा नहीं मिलती, तथा 'महान् एक' की अनुभूति के साथ अपने आप को दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर 'सर्वस्व मूलनिवेषनम्' के प्रति तीव्र आकांक्षा नहीं जाग उठती, वह काव्य और नाटक और वह उपन्यास दो कौड़ी के मोल का भी नहीं है।'' (साहित्य का मर्म, पृ. 15) सच तो यह है कि गुरुदेव के उपन्यासों का फलक अत्यंत विस्तृत ही नहीं बहुआयामी भी है।

■ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में कौन-सा उपन्यास आपको सबसे अधिक पसंद है?

गुरुदेव के समूचे लेखन में एक सांस्कृतिक दृष्टि है। उनके चारों उपन्यास ('बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारु चन्द्रलेख', 'पुनर्नवा' और 'अनामदास का पोथा') मुझे प्रिय हैं। सच तो यह है कि पंडित जी अपने चारों उपन्यासों के द्वारा हिंदी में भारतीय उपन्यास का एक नया प्रतिमान प्रस्तुत कर रहे थे जो पश्चिमी उपन्यासों की संरचना के बरक्स एक स्वकीय संरचना थी और उसका आधार मुख्यतः भारतीय आख्यान-परम्परा थी। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' द्वारा एक तरह से उस आख्यान परम्परा के आधुनिक युग को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया था। उनके उपन्यासों में एक नई बात अद्भुत है, जो दूसरे उपन्यासकारों में कम मिलती है, वह है- कथा को रस के साथ कहने की अनोखी कला। रस का, रसभरा अद्वितीय रूप उनके उपन्यासों में बेजोड़ है। द्विवेदी जी

ने जितना भी लिखा-'अनामदास का पोथा', 'बाणभट्ट की आत्मकथा' से लेकर 'चारुचन्द्रलेख', और 'पुनर्नवा' तक सब नितांत मौलिक हैं। और उनके सभी उपन्यासों में परम्परा और आधुनिकता का द्वंद्व पूरी तरह मौजूद है। केवल उपन्यास ही नहीं वरन उनके पूरे साहित्य को नये सिरे से और नई दृष्टि से समझने की आवश्यकता है। उनकी रचनाएं पढ़ने से नए ढंग से साहित्य को समझने की प्रेरणा मिलती है।

■ ' बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास में पाठक को किस प्रकार का संदेश आपकी दृष्टि में मिलता है?

मुझे लगता है महावीर जी, इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ऐतिहासिक होने के बाद भी इसमें समकालीन अंतर्विरोध और द्वंद्व लगातार उपस्थित हैं, अतीत और वर्तमान एक-दूसरे में आवाजाही करते हुए दिखाई देते हैं। आपको मालूम ही है कि उस उपन्यास में महाराज हर्षवर्धन के सामयिक कवि बाणभट्ट ने अपनी जीवनगाथा संस्कृत में लिखी थी। उसे ही अपनी शैली में गुरुदेव ने हिंदी में लिखा है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में जीवन की नश्वरता का वृहद् विवेचन बाणभट्ट, गुरु अघोरघण्ट, भट्टिनी, निपुणिका, कापालिक और महामाया के माध्यम से किया गया है। मेरा मानना है कि द्विवेदी जी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के द्वारा एक तरह से भारत की अनोखी आख्यान परम्परा को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। उपन्यास के शिल्प में गल्प का अद्भुत प्रयोग करते हुए भी इसमें अपने समय के प्रश्नों की लगातार पड़ताल करते हैं गुरुदेव। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह उपन्यास अन्याय और विरोध का पुंज है। राजनीतिक व्यवस्था का विरोध करने के लिए, कर्मकाण्ड का विरोध करने के लिए, पाखण्ड का विरोध करने के लिए और जातीय दुर्व्यवस्था का विरोध करने के लिए उन्होंने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास लिखा। ऐसी प्रेमकथा है, जिसमें स्त्री पात्रों की चिंतनपूर्ण अनोखी दृष्टि के दर्शन होते हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का प्रारंभ बाणभट्ट के स्वगत कथन से होता है, "मैं आवारा और घुमक्कड़ जन्म का। वर्षों मारा-मारा फिरा और क्या-क्या कर्म नहीं किये। कभी नट बनता, कभी पुतलियों का नाच दिखाता। कभी नाट्य मंडली संगठित करता और कभी पुराण वाक बनकर धोखा देता रहा। लेकिन मैं लम्पट कदापि नहीं, यह सत्य है।" आप देखिए, बाणभट्ट का यह कथन कितना मार्मिक है। यह एक सांस्कृतिक उपन्यास है जो इतिहास होते हुए भी समकालीन है, जिसमें अतीत और वर्तमान एक दूसरे में आवाजाही करते हुए दिखाई देते हैं। गुरुदेव ने हमेशा कर्मकाण्ड की व्यर्थता को अपने उपन्यास के माध्यम से सिद्ध करने की कोशिश की है। कुछ विद्वान 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को उत्तर आधुनिक उपन्यास मानने लगे हैं। भारतीय दृष्टि से देखें तो वह परम्परागत औपन्यासिक रूपबन्ध की एक महत्वपूर्ण प्रतिनिधि रचना है।

■ 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की द्विवेदी जी की आत्मकथा के रूप में भी चर्चा की जाती है। आप इस संबंध में क्या कहते हैं?

यह सच है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के रूप में हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी आत्मकथा ही लिखी है। 'बलिया' का पूरा का पूरा परिवेश उपन्यास में मौजूद है। इस उपन्यास में उनकी युवावस्था का रूप सामने आता है। उनके दूसरे उपन्यास 'चारुचन्द्रलेख' के अन्तर्गत गुरुदेव के चरित्र की झलकियाँ हैं। तीसरे उपन्यास 'पुनर्नवा' में गुरुदेव अनुपस्थित हैं, लेकिन कुछ दिनों बाद वे अलग से पत्र लिखकर अपनी यह शिकायत दर्ज कराते हैं कि कालिदास को उस ग्रंथ में पूर्ण रूप से प्रस्फुटित नहीं कर सके हैं। इसके बाद भी कहना न होगा कि 'पुनर्नवा' उनकी श्रेष्ठतम रचना है। चौथे उपन्यास 'अनामदास का पोथा' में उनका बचपन मचलता है और उसकी अनुगूँज अनेक-अनेक तरह से सुनाई पड़ती है। 'अनामदास का पोथा' पढ़ते हुए कभी लगता है, 'रैक्व' हजारीप्रसाद द्विवेदी ही हैं, और कभी-कभी 'औदुम्बरायण' में भी गुरुदेव की छवि उभरती है। उनकी रचनाधर्मिता और व्यक्तित्व के कई आयाम उपन्यासों में साफ-साफ देखे जा सकते हैं।

■ विश्वनाथ त्रिपाठी ने 'वसुधा 77' के पृष्ठ 39 पर लिखा है, ''चारु चंद्रलेख के कथानक पर ध्यान दें तो लगता है कि वह मानव प्रयत्न की व्यर्थता का उपन्यास है। बाणभट्ट की आत्मकथा की समाप्ति प्रश्नवाचक चीख से, जो प्रश्नाकुलता कम अनिश्चय या निराशा अधिक है, होती है। उत्तरापथ से जनता को संगठित करने की बात ज्यादा होती है, उस दिशा में कोई सफलता नहीं दिखलाई पड़ती।''

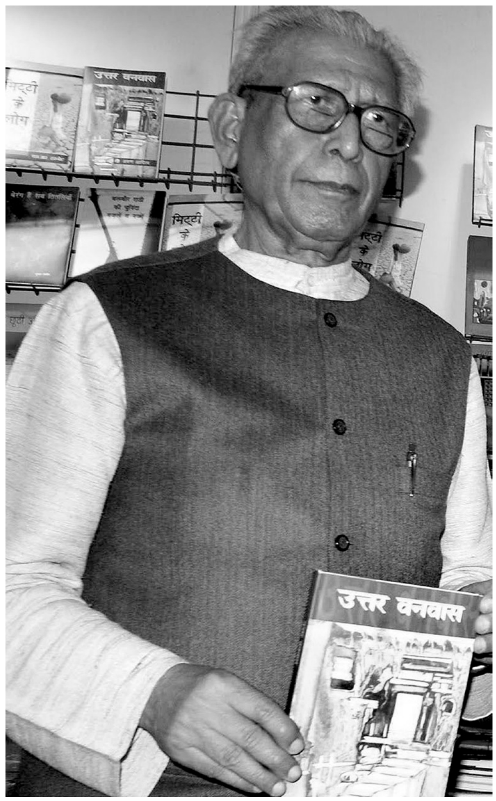

अपने-अपने निष्कर्ष हैं महावीर जी। मुझे तो ऐसा प्रतीत नहीं होता। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आधुनिक नवजागरण की सही दिशा पहचानते हुए मनुष्य को साहित्य का लक्ष्य घोषित किया और लिखा- 'मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से न बचा सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को पर-दुख कातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।' (मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है, ह.प्र.द्वि. ग्रन्थः पृ. 24)"। द्विवेदी जी अपने उपन्यासों का कथानक वर्तमान से न लेकर अतीत से लेते हैं, इसके बाद भी अपने समय की अनुगूँज रहती है। 'चारु चन्द्रलेख' बारहवीं सदी के पतनशील समाज का आख्यान है। साधु-संतों की, मंत्रों की शक्ति, तांत्रिकों ओर ज्योतिषियों और सिद्धियों की चमत्कारिक घोषणाओं के माध्यम से तेरहवीं सदी के समाज की विकृतियों को दिखाते हुए वे हमारे समय की धर्मांधता और साम्प्रदायिकता को भी रेखांकित करते हैं- समाज और मनुष्यता की बेहतरी के लिए। और यह बताते हैं कि इस प्रवृत्ति ने अतीत में समाज को कितना नुकसान पहुंचाया है। 'चारू चन्द्रलेख' उस काल का सर्जनात्मक पुनर्निमाण करने का प्रयत्न है। उपन्यास में अनेकानेक विरोध विचारों की टकराहट के साथ ही तत्कालीन समस्याओं के समाधान की एक ऐसी कोशिश है, जिसमें जनता की भागीदारी हो सकती है। मेरी दृष्टि में इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह उपन्यास बारहवीं और तेरहवीं सदी की सीमाओं को लांघते हुए आधुनिक युग तक पहुंचता है। जनता को संगठित करने के लिए राजा और रानी चन्द्रलेखा मिलकर जन जागरण अभियान चलाते हैं। जनता जब उठ खड़ी होती है, तब रानी चन्द्रलेखा कहती है, "वीरों-राजाओं का युग समाप्त हो गया, अब कहीं आभा है तो प्रजा की संगठित शक्ति में है।"

■ आपने कई बार कहा है, गुरुदेव एक ही उपन्यास को बार-बार लिखते रहे हैं।

'पुनर्नवा' में चन्द्रमौली, मृणालिनी, मंजुल, देवरात, आर्यक और शर्विलक का जीवन चरित हैं, जो चौथी शताब्दी की घटनाओं पर आधारित है। इसमें कालिदास का चरित्र पूरी तरह नहीं उभर सका। उपन्यास 'पुनर्नवा' में जो

बार-बार चन्द्रमौलि की बेचैनी है, वह मुझे पंडित जी की, स्वयं की बेचैनी दिखाई पड़ती है। पुनर्नवता बेचैनी का सूचक हैं। 'पुनर्नवा' उपन्यास की ये पंक्तियाँ द्रटव्य हैं, "अगर निरंतर व्यवस्थाओं का संस्कार और परिमार्जन नहीं किया गया तो एक दिन व्यवस्थाएँ तो टूटेंगी ही, अपने साथ धर्म को भी तोड़ देंगी"। तीनों उपन्यासों की अंतिम परिणति 'अनामदास का पोथा' में होती है, जहाँ योग है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारु चन्द्रलेख' और 'पुनर्नवा' इन तीनों उपन्यासों में प्रेमिका से मिलन नहीं होता है। अंतिम उपन्यास है 'अनामदास का पोथा', जहाँ मृत्यु नहीं होती बल्कि जिसका अन्त मिलन से होता है। संसार अपनी सारी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ उनके उपन्यासों में नजर आता है। विचार में कथा एक कड़ी के बाद दूसरी कड़ी की तरह जुड़ती चली जाती है। कहीं कोई

चालीस साल पहले एक कहानी 'सब हवा है' लिखी थी, 'अनामदास का पोथा' उसी कथानक का विस्तार है। मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य के संवाद जीवन में सत्य के धरातल पर सही प्रतीत होते हैं। 'रैक्व' जीवन की विषमताओं के बीच संभावनाओं को उजागर करने के लिए व्याकुल नजर आते हैं। इसके समाधान हेतु वे विरक्ति का नहीं प्रवृत्ति का मार्ग अपनाते हैं। स्त्री केवल कामावेग का साध्य व साधन नहीं है। देह के बिना आत्मा का प्रेम संभवतः उपन्यास के नायक 'रैक्व' की तरह ही विकसित होता होगा। नैतिकता के भीतर चरित्र की अस्मिता स्वतः बनती जाती है। रैक्व केवल पद को जानता है पदार्थ को नहीं। स्त्री-पुरुष के भेद से अपरिचित रैक्व की अबोधता का ऐसा लालित्य मैंने अन्यत्र नहीं देखा।

उनके चारों उपन्यास ('बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारु चन्श्रद्रलेख','पुनर्नवा' और 'अनामदास का पोथा') मुझे प्रिय हैं। सच तो यह है कि पंडित जी अपने चारों उपन्यासों के द्वारा हिंदी में 'भारतीय उपन्यास' का एक नया प्रतिदर्श प्रस्तुत कर रहे थे जो पश्चिमी उपन्यासों की संरचना के बरक्स एक स्वकीय संरचना थी।

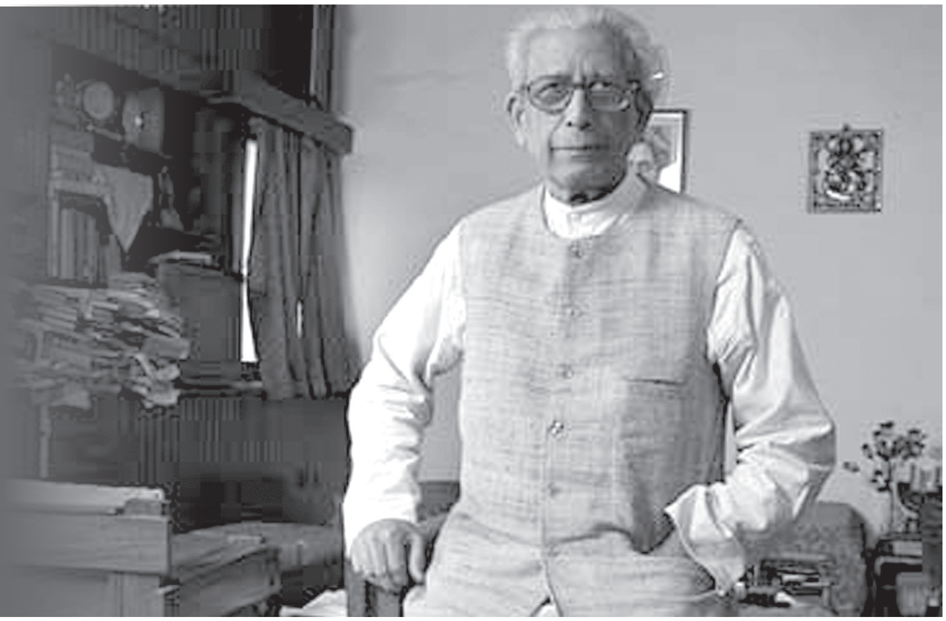

बिखराव नहीं वरन, रस की तारतम्यता बनी रहती है। साहित्य में कुछ नया जोड़ना संभव नहीं है। सब कुछ पर सब कुछ लिखा जा सकता है। जो कालिदास ने लिखा, जो बाणभट्ट ने लिखा, द्विवेदी जी ने उसका ही पुनर्लेखन किया। यह नकल नहीं है क्योंकि कुछ न कुछ बदल ही जाता है। क्षण-क्षण पर जो हमेशा नया लगे वही सौंदर्य है। अगर वह बासी लगने लगता है तो फिर सौंदर्य नहीं है। कुछ नया पैदा करना ही सृजनशीलता है। यह नए तरह का विन्यास है। मुझे लगता है रचना का धर्म है पुनर्रचना, पुनर्नवता। पुनर्नवता आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के सम्पूर्ण साहित्य का बीजमंत्र है। सच तो यह है कि गुरुदेव ऐसे विलक्षण और दुर्लभ उपन्यासकार हैं, जो लम्बे-लम्बे वाक्यों में भी अपनी बात पूरी सहजता के साथ कहते हैं।

■ साहित्य समाज में यह तथ्य लगभग सर्वमान्य है कि उनके उपन्यासों में 'अनामदास का पोथा' पूरी परकाष्ठा तक अपने चरमोत्कर्ष तक पहुंचा है, फिर भी 'अनामदास का पोथा' की चर्चा सबसे कम क्यों हुई?

'अनामदास का पोथा' उपन्यास में रैक्व-जाबाला की प्रेम कथा ठेठ किस्सागोई तरीके से रससिक्त होती हुई गतिमान होती है। अनामदास स्वयं कथावाचक हैं। 'अनामदास का पोथा' की भूमिका में उन्होंने लिखा है, "अजब गप्पी है यह अनाम। अनुभव का क्षेत्र तो इसका बहुत सीमित लगता है पर उस सीमा के भीतर उछल-कूद कर सकता है, अनाम के भीतर सोया हुआ कवि भी है, रह रहकर वह जाग पड़ता है।" एक अनजानी-सी प्रेम कथा सूक्ष्म लय में हिचकोले खाते हुए आगे बढ़ती है। इसमें सामाजिक चेतना और विद्रोह की झलक भी कहीं-कहीं दीख पड़ती है। छान्दोग्य उपनिषद से कथानक लेकर गुरुदेव ने कोई

अशोक वाजपेयी से द्विवेदी जी ने एक इन्टरव्यू में कहा है, "मैं तो गप्प लगाता हूँ। पंडिताऊ काम में तो प्रमाण से बंधा रहना पड़ता है और जब उससे उकता जाता हूँ तो गप लगाता हूँ। उसमें सुविधा यह है कि सच लगे वह कह लो, और बाद में सब के बारे में कह दो कि वह सब तो झूठ था।"

गुरु-गम्भीरता से दूर ऐसी सहजता और साफगोई गुरुदेव की विशिष्टता रही है। वे बेहद उजले दिल वाले ऐसे उद्‌भट विद्वान थे जिन्हें अपनी विद्वत्ता पर तनिक भी अहंकार नहीं था। अपने सृजन पर कुछ भी कहने से वे बचते थे। एक बार अपने उपन्यासों के संदर्भ में द्विवेदी जी ने कहा था- "बाणभट्ट की आत्मकथा' एवं 'चारु चंद्रलेख' जिस शैली में लिखे गए, उसी शैली में लिखे जा सकते थे। पत्थर की मूर्ति में पत्थर का और मोम की मूर्ति में मोम का भाव रहना आवश्यक रहता है। पत्थर में मोम के भाव की प्रतिष्ठा कौशल है। किंतु कला के उच्च स्तरीय पैमाने में इसे अच्छा नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक वस्तु का अपना स्वभाव है। उसे उसी ढंग से पकड़ा जा सकता है। मैं जो कुछ लिखता हूँ, ईमानदारी एवं सच्चाई के साथ लिखता हूँ, और घोर परिश्रम करके लिखता हूँ। संकल्प करके कुछ नहीं लिखता। योजना बनाकर अभी तक कुछ नहीं कर सका मेरे सारे कार्य परमात्मा के भरोसे रहते हैं। जैसे वह चाहता है, वैसे ही होता है।" अदम्य जिजीविषा से भरा हुआ उनका निर्मल मन समय-समय पर 'विट' और ह्यूमर की अनोखी बानगी प्रस्तुत कर हमें चकित कर देता है।

पुस्तक और मैं

■ प्रेमपाल शर्मा

किताबों के कितने अहसान मानूं ?

पुस्तक या शब्द को मैं ईश्वर से भी पवित्र और ऊंचे स्थान पर रखता हूँ। पुस्तक यानि कि छपे हुए शब्द। वो कागज पर हों या कंप्यूटर की स्क्रीन या आई-पैड पर। दुनिया बदली है और यह बदल रही है तो इन्हीं शब्दों की मार्फत। सुने हुए शब्द की भी मेरे लिए सीमित महत्ता है क्योंकि जितनी आजादी अपने सामने खुली किताब या पृष्ठ से ले सकता हूँ उतना किसी और माध्यम से नहीं। यह तो हुई अपने सिद्धांत के दावे की बात। अब मैं लौटना चाहूँगा कि आखिर मैं ऐसा क्यों मानता और समझता हूँ।

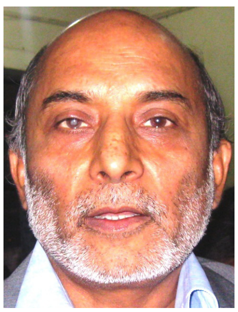

कई बार तो अपने अतीत से डर भी लगने लगता है कि यदि सही किताबों की संगति नहीं मिली होती तो क्या मैं जैसा भी नागरिक हूँ वैसा बन पाता। पश्चिम उत्तर प्रदेश का एक छोटा-सा गाँव। पांच-सात भाई-बहन, छोटे-मोटे खेती के कामों में जुटे। (जहां हमारी भैंस और बैल रहते थे) में करीब आधा किलोमीटर का अंतर था। घर भी बहुत बड़े नहीं थे। दो छोटे-छोटे कमरे, एक रसोई, एक आंगन। इसलिए दस की उम्र होते-होते हम जंगल में रात को सोने लगे थे। तो दिन कहां बीतता? ज्यादातर जंगल और खेतों के आसपास। नीम के पेड़ के नीचे तो कभी किसी मैदान में बच्चों के साथ कंचे खेलते या कबड्डी और गेंद्दड़ी जैसे खेलों में मस्त। मेरी उम्र के बच्चों को जानवरों को चराने जाना, उन्हें नहलाना या उनके लिए चारा काटने जैसे छोटे-मोटे काम करने पड़ते थे। ऐसा भी कम नहीं हुआ कि इधर भैंसें चर रही हैं, उधर हम पूरे दिन कंचे या ताश खेल रहे हों। फिर इसी बीच में बड़े भाई या माँ की आवाज आती और हम कंचे छोड़कर काम में जुट जाते। ऐसे किन क्षणों में किताब पढ़ने की आदत बनती गई, उसे याद करने की कोशिश कर रहा हूं।

इसमें कागज के उस टुकड़े का भी हाथ हो सकता है जिस पर रखकर हम पैसे-दो-पैसे के चने या मुरमुरे, लेते थे। कई बार तो उस आधे पन्ने की कहानी पढ़ते-पढ़ते और भी पढ़ने की उत्सुकता होती। शायद पुस्तकों के प्रति, और जानने के संस्कार के ये पहले कदम होंगे। हमारे बचपन के आसपास कम-से-कम घर में तो शायद ही कोई किताब थी। पिताजी दिल्ली में एक छोटी-सी नौकरी में थे और हमारी माँ जो निरक्षर थीं वो हम सबको गांव में खेती, किसानी के साथ रखती थीं। सिर्फ दो अपवादों को छोड़कर। एक-जंगल में मेरे दादा जी रहते थे। अपनी उम्र के 40 वें वर्ष में उनके पैर को लकवा मार गया था इसलिए वे ज्यादा दूर तक नहीं चल-फिर सकते थे। लाठी के सहारे सौ-दो सौ कदमों तक सीमित रहते थे। शायद इस असहायता ने उन्हें किताबों के नजदीक ला दिया था। एक पुराने से कपड़े में कुछ किताबें बंधी रहती थीं। जिनमें मुझे याद है एक 'सुख सागर' था और एक-आध कुशवाहा कांत आदि के उपन्यास, कहानी, घर का हकीम, डॉक्टर जैसी किताबें थीं। दोपहर को बाबा खाना ले जाते थे और बाबा जैसे ही सोने के लिए जाते मैं चुपके से उनकी किताब उठा के नीचे या बराबर की दूसरी कोठरी में पढ़ने लग जाता। बहुत डरते-डरते। क्योंकि बाबा एक असुरक्षा बोध के नाते हमें किताब नहीं देते थे कि यदि फट गई तो शायद वे और अपाहिज हो जाएंगे।

तो जब तक दोपहर के बाद दो-तीन बजे थोड़ी दोपहरी कम होने पर हम बच्चे अपनी-अपनी दो तीन भैंसें और पड्डे-पड़ियों को लेकर चराने जाते तबतक मैं उन पुस्तकों का भरपूर आनंद लेता। किताबों के इस आनंद से मैं यदि पीछे मुड़कर देखूं, तो कई बीमारियों और बुराइयों से बचा। इस बीच आस-पास फैले बच्चे कोई ताश

समाज और शिक्षा के विमर्श में गहरी रूचि रखने वाले प्रेमपाल शर्मा दिल्ली में रहते हुए हर संभव सक्रिय बने रहते हैं। कई पुस्तकें प्रकाशित।
संपर्क : 09717644643

खेल रहा होता तो कोई कंचे या दूसरी शरारतें जिनमें मार-पीट, झगड़ा, चोरी और दूसरे ऐब-कुटेब भी शामिल हैं। निश्चित रूप से बहुत छोटी उम्र में पुस्तकों ने मुझे इन विकृतियों से दूर रखा।

हम पांच भाई हैं। दो मुझसे बड़े, दो छोटे। जब मैं छठी क्लास में आ गया तो भैंस चराने आदि का काम छोटे भाइयों ओमा एवं कांती को मिल गया और हमें तरक्की कराके कुछ दूसरे बड़े काम दे दिये गये जैसे-खेतों में निराई करना, कभी-कभी गेहूं बोना, बैलों को सानी करना....., फिर हल चलाना। छठी, सातवीं तक आते-आते भैंस दूहना यानी कि दूध निकालना भी आ गया था।

बचपन में ऐसी पुस्तकें कैसे आपको पूरी तरह बदल देती हैं इसका ठीक-ठीक अनुमान कोई भी मेडिकल डॉक्टर या मनोवैज्ञानिक नहीं लगा सकता। मैं 'भारत के क्रांतिकारी' पढ़ने में तल्लीन हूं और माँ और भाई काम के लिए आवाज लगा रहे हैं। मेरे बड़े भाई मुझसे मात्र एक-डेढ़ साल बड़े हैं। लेकिन उनके मुकाबले मेरा स्वास्थ्य बचपन से ही ज्यादा अच्छा रहा। इतना कि झगड़ा वो करके आता और मैं बदला ले के आता। मेरा अमूमन झगड़ा कम ही होता था। या कह सकते हैं मेरी ख्याति के चलते कोई हिम्मत ही न करता। चारा काटने की मशीन में वे चारा लगाते और मैं मशीन चलाता। मुझे लगता कि चन्द्रशेखर आजाद और अशफाक उल्ला की वीरता की कहानियों से मेरे अंदर ताकत भर रही हैं। यानि पुस्तकों से निकली ऊर्जा मेरे दिमाग को भी चैतन्य बनाए हुए हैं और मेरे शरीर को भी। दूर-दूर तक थकान का नाम नहीं होता था। क्रांतिकारियों के प्रति मेरी इसी भक्ति ने मुझे चित्र बनाने की प्रेरणा दी। चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह, महाराणा प्रताप, सुभाष चन्द्र बोस, विवेकानन्द, शिवाजी के चित्र शुरू में तो मैंने देखकर बनाए उसके बाद तो मैं खड़े-खड़े बनाता और बच्चों को बांट देता। पिताजी ने एक बार दिल्ली से आकर ये चित्र देखे तो अगली बार वे जब भी आते रंगीन पैंसिल ले आते।

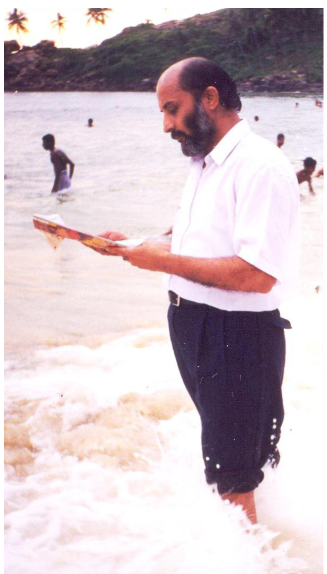

ग्यारहवीं तक प्रेमचंद, सुदर्शन, वृंदावन लाल वर्मा हमारे हाथों तक पहुंच चुके थे। इसका कारण था शुरू में मुकर्रम इंटर कालिज के पुस्तकालय में हफ्ते-दर-हफ्ते के हिसाब से भी न जाने कितनी किताबें पढ़ डालीं। ग्यारहवीं, बारहवीं के दिनों में ही एक आध जासूसी किस्म के उपन्यास भी। मेरे मित्र (अब स्वर्गीय डॉक्टर विनोद) की संगति में जिनमें इब्नेसफी, राजेन्द्र सिंह बेदी, गुलशन नंदा आदि के नाम याद हैं। कुशवाहा कांत के 'लाल रेखा' ने तो पागल ही कर दिया था लेकिन पुस्तक का अंतिम पन्ना गायब था। एक से दूसरे स्टॉल पर भागता, पूछता। आखिर उसका अंत पढ़कर ही संतोष मिला। क्या पुस्तकें पागल भी बना सकती हैं?

खैर, एन.आई.ई.सी. कॉलेज खुर्जा याद आता है पुस्तकों के लिए वर्ष 1973-75। वे जय प्रकाश आंदोलन के दिन थे। दिनमान, साप्ताहिक हिंदुस्तान, धर्मयुग, नवनीत, पहली बार एन. आर. ई. सी. कॉलेज में ही देखीं। पढ़ने की पूरी आजादी थी। दिनमान, धर्मयुग के प्रति दीवानगी उन्हीं दिनों बननी शुरू हो गई थी। अब तक सीधे-सीधे किसी गुरु के माध्यम से साहित्य संस्कार नहीं मिले थे। इन्हीं दिनों प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद से लेकर चतुरसेन शास्त्री सबको पढ़ डाला। मुझे याद है रघुवीर शरण मित्र का उपन्यास जो शायद चाणक्य, चन्द्रगुप्त के जीवन पर आधारित है मैंने शाम को पढ़ना शुरू किया और सुबह तक पढ़ते-पढ़ते लालटेन का तेल जब तक खत्म नहीं हो गया, मैं नहीं सो पाया। अखबार भी इसी पुस्तकालय में पहली बार पढ़े। गाँव में तो अखबार मंगाने या आने का प्रश्न ही नहीं उठता। ज्यूलॉजी, बॉटनी की देसी-विदेशी लेखकों की किताबें भी पर्याप्त संख्या में उपलब्ध थीं। अपनी विज्ञान पाठ्यक्रम की किताबें लाइब्रेरी से इश्यू कराते, पढ़ते और वापिस कर देते। शायद ही बी.एस.सी. के दिनों की कोई किताब मेरे घर में खरीदी हुई हो। यहीं कभी-कभी कुछ अपराध भी किये। जैसे आईस्टाइन या अपने प्रिय वैज्ञानिक मैंडेल का फोटो अच्छा लगा तो कितना से फाड़ लिया और किताब चुपचाप वापिस कर दी। अब अहसास होता है कि ये बड़ा दुराचरण था। उसके पीछे के पृष्ठों को तो आगे कोई विद्यार्थी नहीं पढ़ पाया होगा। काश! उन दिनों फोटो-कॉपी आदि उपलब्ध होती या हम इतने बेईमान, नीच नहीं होते।

बी.एस.सी. करते-करते पलड़ा जे. पी. आंदोलन में राजनैतिक सक्रियता या कह सकते हैं कि नेताई-आवारापन की तरफ झुकने लगा था। जय प्रकाश आंदोलन की सक्रियता ने तरह-तरह की पुस्तकों को पढ़ने की भूख पैदा की और इसी भूख पर सवार मैं 1976 के अंत में दिल्ली पहुंच गया।

दिल्ली की लाईब्रेरी और किताबें तो मानों मेरा इंतजार ही कर रही थीं। पता नहीं कब कैसे मंडी हाउस पहुंचा हूंगा। न मैंने किसी को गरु बनाया था न किसी ने मुझे चेला। साहित्य अकादमी के वाचनालय में उन दिनों बेरोक-टोक आवा-जाही थी। दुनिया भर के अखबार।

हम उन दिनों यमुना पार कृष्णा नगर में रहते थे। एक साथ कई काम जारी थे। मैं दिल्ली प्रशासन की नौकरी में आ गया था। इसके साथ-साथ और भी कई काम चलते रहे थे, जैसे सुबह-शाम ट्यूशन पढ़ाना, आई. ए. एस. आदि प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी के सिलसिले में इधर-उधर की किताबें पढ़ना आदि। इस यात्रा की विधिवत् शुरुआत हुई पुस्तकालयों से। सबसे नजदीक थी, शाहदरा मंडी की दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी। अनाज मंडी के पीछे स्थित इस लाइब्रेरी की मैं जितनी प्रशंसा करूं, कम है। चारों तरफ निम्न, मध्यम वर्ग या बनियों, व्यापारियों की बस्तियों से घिरे इस पुस्तकालय में ऐसी-ऐसी बेजोड़ किताबें मौजूद थीं- जैसे इमरजेंसी के तत्काल बाद कुलदीप नैय्यर की 'द जजमेंट', सी. एस. पंडित और अरुणा वासुदेव की इमरजेंसी पर लिखी मशहूर किताबें, चन्द्रशेखर की जेल डायरी, जो अभी-अभी आपातकाल के खत्म होते ही छपकर आई थी, वे सभी इस लाईब्रेरी में उपलब्ध थीं।

लाईब्रेरी घर के नजदीक थी, इसलिए जब मर्जी हो जाओ और किताबें ले आओ। एक कार्ड पर दो किताबें। दिल्ली पब्लिक लाईब्रेरी ने यदि मैं कहूं कि मानसिक तौर से दिल्ली में जमने में मेरी जितनी मदद की, उतनी किसी और चीज ने नहीं। याद करूं तो उस पुस्तकालय में क्या नहीं था? इतिहास, राजनीति शास्त्र और साहित्य की इतनी किताबें, जो सारी उम्र पढ़ने के बाद भी खत्म न हों। सिर्फ किताबें ही नहीं, 30-40 वर्ष पुरानी पत्रिकाओं धर्मयुग, दिनमान, सारिका के पुराने अंक भी सजिल्द मौजूद थे। 'क्या पढ़ूं और छोड़ूँ' वाले अंदाज में जितना पढ़ता, पढ़ने की भूख उससे और तेज हो जाती। लाइब्रेरी के कार्ड बनने में भी कोई परेशानी नहीं हुई, तो कुछ किताबें घर भी ले जाता। यहीं सरकते-सरकते मैंने दिल्ली के कुछ नौजवानों, बुजुर्ग साहित्यकारों के साथ दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी के एक कक्ष में साहित्यिक, राजनैतिक और सामाजिक बहसों में शरीक होने की शुरुआत भी की।

काश! दिल्ली के विकास में फ्लाई ओवरों की संख्या, प्राइवेट स्कूलों की संख्या और सबसे ज्यादा कारों की संख्या के साथ-साथ दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी जैसी संस्थाओं का विकास भी होता।

वाकई यह समय यदि संकट का है तो सबसे ज्यादा पठन-पाठन के लिए ही है। दिल्ली विश्वविद्यालय के कला संकाय पुस्तकालय का पत्रिका-कक्ष भी अस्सी के दशक में दुनिया भर की पत्रिकाओं से भरा रहता था। गाज सबसे पहले इसी पर गिरी। कम ही जानते होंगे कि विश्वविद्यालय में पढ़ाने वाले शिक्षकों के वेतनमान वही हो गए हैं, जो नौकरशाही या किसी भी प्रशासनिक सेवा के हैं।

इसमें कोई बुराई नहीं है, लेकिन विश्वविद्यालय के इन बुद्धिजीवियों को इस ओर भी देखने की जरूरत होनी चाहिए कि पुस्तकालयों की क्या दशा-दिशा बनी हुई है। अच्छे पुस्तकालय तो उनके शिक्षण में मदद ही करेंगे। इस विश्वविद्यालय के पत्रिका-कक्ष की जगह तो अभी उतनी ही बड़ी है, लेकिन पत्रिकाएं वहां पुरानी ही रखी हुई हैं। नई के लिए बजट यहां भी घट चुका है। कुछ लोग पठनीयता के तर्क में अच्छी पत्रिका की बजाय 'सरिता', 'मुक्ता' मंगाने का तर्क देते हैं। मेरा इन पत्रिकाओं से विरोध नहीं है, लेकिन ये तो बाजार में बिखरी पड़ी हैं। पुस्तकालय में इनकी तलाश के लिए कोई नहीं आता। पुस्तकालय विशिष्ट और विरासत में रखने लायक चीजों के लिए जाने जाते हैं। बहुत सारी अकादमियों की स्थापना पचास-साठ के दशक में हमारे तत्कालीन दूरदर्शी नेताओं ने इसी विरासत के सांस्कृतिक पक्ष को मजबूत करने के लिए की थी। यूरोप, अमेरिका आज शोध और शिक्षा के लिए सर्वश्रेष्ठ जगह हैं तो इन्हीं पुस्तकालयों, संस्थानों की बदौलत।

राजेन्द्र यादव ने एक बार लिखा था कि मेरे जीवन का सबसे भयानक स्वप्न है कि मैं एक ऐसे कमरे में छोड़ दिया गया हूँ जिसमें कोई किताब ही नहीं है। इस सपने से मुझे भी बहुत डर लगता है कि यदि किताब नहीं होंगी तो कैसे जीवन बीतेगा? बस दो आंखों की दरकार और है। आंखे और पुस्तकें मिल जाएं तो मुझे जीवन में और कुछ नहीं चाहिए।

इन्हीं पुस्तकों की रोशनी में मैंने धर्म के असली रूप को जाना। मैं फिर कहता हूँ कि सुना हुआ शब्द तो किसी और की मंशा से निकलता है और उसमें भरे होते हैं उपदेश, बंधन, दबाव, और नकार में जाने की धमकियां। जब खुद पढ़ते हैं तो भगवान बुद्ध के सूत्र की तरह। अपनी रोशनी खुद बनो यानि कि तुम क्या हो? क्यों हो? क्यों हर मनुष्य बराबर है? इसकी समझ आएगी कि हिंदू हैं या ब्राह्मण या शूद्र और यह क्या मेरे वश की बात है? पुस्तकें बार-बार ये बताती हैं, आगाह करती हैं कि इन बंधनों से मुक्ति उस तर्क से ही मिल सकती है। यूरोप, अमेरिका आज विकास के जिस दौर में पहुंच गये हैं वे इन्हीं पुस्तकों और शिक्षा की बदौलत।

इस देश की आधी जनता सही मायनों में अभी भी निरक्षर है। आधी से ज्यादा शताब्दी आजादी के बीत जाने के बाद भी। वक्त आ गया है कि हम अपने संस्थानों की सीमाओं को देखते हुए पुस्तकों और पुस्तकालयों को घर-घर तक पहुंचाएं। यदि पांच वर्ष में भी हम ऐसा कर पाए तो दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र सबसे अच्छा लोकतंत्र भी साबित होगा। दिल्ली में एक बार मेरे आसपास पुस्तकें आईं तो आगे चलकर यही पुस्तकें ओमा शर्मा को भी अर्थशास्त्र की दुनिया से खींचकर हिंदी साहित्य की दुनिया में ले आईं। नौकरी पूरी हो जाने के बाद पिताजी ने भी पुस्तकों का खूब लुत्फ उठाया। पुस्तकों की चर्चा में पिताजी नहीं भूलते। मेरी और ओमा शर्मा के घर में उपलब्ध लगभग सभी हिंदी की किताबें उन्होंने ही पढ़ी होंगी। अपनी पिचासी वर्ष की उम्र तक पुस्तकें उनका सबसे बड़ा सहारा रहीं। हरिशंकर परसाई, प्रेमचंद, मैत्रेयी पुष्पा उनके प्रिय लेखक थे। उर्दू की 'आजकल' मैं उनके लिये ही लाता था। उर्दू, हिंदी, संस्कृत पर समान अधिकार। दिल्ली में रहकर काम चलाऊ अंग्रेजी भी उन्होंने सीख ली थी।

मैं किताबों के कितने अहसान मानूं? किताबों की दुनिया का ही एक और असर। गाँव में रहते हुए मेरे बड़े भाई साहब की शादी तब हो गयी थी जब वे बारहवीं में थे। उम्र अठारह वर्ष। और मुझसे एक डेढ़ साल जो बड़े दूसरे भाई थे। उनकी 1974 में उम्र 21 वर्ष। मुझे यह बात तब भी विचित्र लगती थी कि यह कोई शादी की उम्र है? और क्या शादी ऐसे होती है कि कोई अभिभावक प्रस्ताव लेकर आये, इधर-उधर की बातें हो, लेन-देन के हिसाब। मानों किसी भेड़-बकरी से कर दी जाए। लाख दबावों के बावजूद भी केवल पुस्तकों की दुनिया ने ही मुझे ऐसे बेमेल 'अभिभावकी-विवाह' जैसे कर्मों से दूर रखा।

पुस्तकें कितने रूपों में आपको बदलती हैं!

पुस्तकों के साथ की पूरी यात्रा में कभी-कभी एक अफसोस जुड़ जाता है कि महात्मा गांधी को मैंने इतनी देर से क्यों पढ़ा? सही मायनों में वर्ष 1996 के शुरू में जब बड़ोदरा तैनाती हुई। अमेरिका में जा बसे वेद मेहता की किताब लाइब्रेरी में मिल गई। आंखों से अपाहिज होने के बावजूद भी वेद मेहता की बहुत नायाब किताब। बलराम नंदा की 'गांधी के आलोचक' भी पढ़ी। एक दृष्टि मिली। दरअसल बचपन से जवानी तक की चेतना पर 'स्वतंत्रता संग्राम के क्रांतिकारी' इस हद तक हावी रहे कि गांधी, नेहरू, पटेल तक बहुत बाद में पहुंचा। लेकिन एक बार गांधी की गिरफ्त में आने के बाद हर दिन गांधी को पढ़ने को मन करता है। 'सत्य के प्रयोग' 'गांधी की आत्मकथा' का गद्य विलक्षण ही कहा जाएगा। ऐसी सीधी सरल भाषा, छोटे-छोटे वाक्य और हर बात एक डेढ़ पेज में समाप्त। मानो कोई ईश्वर उन पृष्ठों पर आ बैठा हो। किसी भी लेखक के लिए ऐसा गद्य लिखना एक उपलब्धि ही मानी जाएगी। दिल्ली में एक पत्रिका मेरे पास आती है पिछले चार-पांच वर्षों से और उसमें 'सत्य के प्रयोग' का एक हिस्सा छपता है। यह मुझे और भी अच्छा लगता है क्योंकि एक साथ पूरी किताब पढ़ने के बजाए महात्मा गांधी के जीवन की सादगी, ईमानदारी, रेल यात्रा या ईश्वर और धर्म के बारे में उनका नजरिया आपके मन पर और गहराई से बैठता जाता है। गांधी के ऊपर पिछले दिनों इतिहासकार सुधीर चन्द्र की किताबें भी बहुत यादगार हैं। विशेष रूप से गांधी के अंतिम दिनों की पड़ताल करती 'गांधी : एक असंभव संभावना'। फिलवक्त में मुझे गांधी पूरी दुनिया के लिए एक उम्मीद की तरह नजर आते हैं। मैंने गांधी तक पहुंचने की यात्रा के लिए अपने को समझाने के लिए एक सिद्धांत भी गढ़ लिया है। 'बचपन में हम सब क्रांतिकारी होते हैं। फिर सुभाष, फिर पटेल, फिर नेहरू और अंत में महात्मा गांधी।' कोई शक?

वक्त और उम्र के साथ पसंदीदा विषय बदलते रहे हैं लेकिन बायोग्राफी या जीवनियां सनातन हैं। गांधी, पटेल, नेपोलियन, प्रेमचंद, निराला, स्टीफन स्वाइग, फ्रायड, हिटलर, चर्चिल से लेकर मेरे प्रिय वैज्ञानिक डार्विन, मेंडेल, आइंसटाइन, फैराडे, दौलत सिंह कोठारी, सी.वी.रमन या हाल ही में नोबल से पुरस्कृत वैंकटरमन और कुलदीप नैयर, विनोद मेहता...।

इन सभी पुस्तकों के लिए मेरे छोटे से घर में बड़ी जगह है। दिल्ली में कांती नगर के घर में पुस्तकों की खूब बरक्कत रहती थी और कला विहार में भी। पत्नी के शब्दों में -'इतनी किताबें लोग किसी फालतू आदमी को ही भेजते होंगे।' किताबों का तालाब जब लबालब हो जाता है तो ये किताबें बीच-बीच में गाँव या स्कूल की लाईब्रेरी में भी पहुंच जाती हैं- पत्नी से डरकर।

इसी बीच बच्चों की पढ़ाई से गुजरते हुए 'शिक्षा' भी मेरी प्रिय पुस्तकों में शामिल होती गईं हैं। जॉन हाल्ट की कई किताबें 'बच्चे असफल क्यों होते हैं', कृष्ण कुमार की 'गुलामी की भाषा', गीजू भाई, अनिल सद्गोपाल की किताबें, ए. एस. नील की 'समर हिल', आदि दर्जनों किताबें मेरे घरेलू पुस्तकालय का हिस्सा बन चुकी हैं। प्रेमचंद, निराला, दिनकर, अज्ञेय, राम विलास शर्मा, राजेन्द्र यादव से लेकर नयी पीढ़ी के कई लेखकों की किताबें तो हैं ही। मेरे घर पांच-सात किताबें तो ऐसी भी हैं जो शायद शादी के वक्त किसी ने भेंट कीं लेकिन अभी तक नहीं पढ़ पाया। विमल मित्र की 'खरीदीं कौड़ियों के मोल', रवीन्द्र नाथ ठाकुर की कहानियों और उपन्यास का सेट, टॉलस्टाय का 'वार एंड पीस', दोस्तोव्यस्की का 'क्राइम एंड पनिशमेंट'। दिल्ली और नौकरी के समय की आपा-धापी में मैं इन किताबों को ललचाई नजरों से देखता रहता हूं और उस दिन का इंतजार कर रहा हूं जब सरकारी नौकरी से रिटायर हो जाऊंगा। और भी लम्बी लिस्ट है जो मुझे पढ़नी है। कभी कोई ऐसा प्रश्न जब उछालता है कि रिटायरमेंट के बाद आप क्या करेंगे तो मेरा जवाब होता है कि कम-से-कम पचास वर्षों तक तो मुझे पुस्तकों से फुरसत नहीं मिलेगी।

समीक्षा

■ ओम निश्चल

अदृश्य प्रार्थना जैसी अनुगूँज

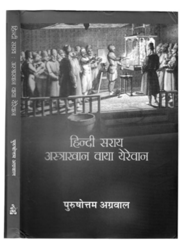

इतनी शक्लों में अदृश्य
नंदकिशोर आचार्य
सूर्यप्रकाशन मंदिर
नेहरू मार्ग
बीकानेर
संस्करण : 2012
मूल्य : 150/-

पछले तीन-चार वर्षों में नंदकिशोर आचार्य के तीन संग्रह आए। 'चाँद आकाश गाता है', 'गाना चाहता है पतझड़', 'केवल एक पत्ती ने' तथा अब 'इतनी शक्लों में अदृश्य'। पर सच कहा जाए तो आचार्य के इन सभी संग्रहों का मिजाज एक सा है। ये देखने में उनकी कविता अपने ही चित्त में रमी हुई लगती है जैसे सामाजिक सरोकारों से उनका कोई लेना देना ही न हो। पर अज्ञेय के नक्शे कदम पर चलने वाले नंदकिशोर आचार्य ने उन्हीं की तरह अपनी कविता को निज-मन-मुकुर बनाने की चेष्टा की है। अज्ञेय की कविता तो अपने इस कौल करार के बाद भी बहुधा ज्यादा ही बोलती है, पर आचार्य की कविता वाकई कम बोलती हैं। इस तरह खामोशी को ही रचने-बुनने को अज्ञेय की अवधारणाओं के वे सच्चेत अनुयायी दिखते हैं। पर नंद किशोर आचार्य के कवित्व में न केवल मितभाषिता है, बल्कि उसमें अर्थ-गांभीर्य भी है।

भारवि के अर्थ-गौरव की तरह नंदकिशोर आचार्य की लघु कविताओं में अपार भाव-संसार लहराता मिलता है। जल संकट से जूझने वाले राज्य राजस्थान में रहने वाले आचार्य के यहाँ जल और जल-संकट को लेकर जितने बिम्ब और अनुगूँजें मिलेंगी, उतनी शायद अन्य कवियों में नहीं, यहाँ तक कि राजस्थान के कवियों में भी नहीं। अचरज नहीं कि कविता के सरोवर में आचार्य के उतरने का पहला साक्षी 'जल है जहाँ' रहा है जो कि उनका पहला संग्रह ही नहीं, कविता में उनकी प्राथमिकत पैठ का परिचायक भी है। उनके भीतर अक्सर अवसान, मृत्यु और उदासियों का लगभग वैसा ही सुपरिचित वातावरण मिलता है जैसा प्रायः कलावादियों के यहाँ। पर यह अच्छी बात है कि उनके यहाँ समकालीनों जैसी स्थूलता के दर्शन नहीं होते, बल्कि प्रकृति, स्वभाव, पंचभूतों और फैले हुए अछोर जीवन के छोटे से छोटे क्षण-कण बीनते बटोरते हुए वे एक ऐसी अर्थच्छा बिखेर देते हैं जैसे धरती पर हास बिखेरती चांदनी या आकाश में उजास फेंकती तारावलियाँ। उनकी कविताओं की गलैक्सी में अनुभूति के हर लम्हे को महसूस किया जा सकता है। उनकी एक कविता : 'रह गया होकर कहानी' के बोल हैं : कविता होना था मुझे/रह गया होकर कहानी/न कुछ हो पाने की/मेरा सपना होना था जिसे/रह गयी होकर रात/नींद के उखड़ जाने की/उम्र पूरी चुकानी थी/एक पल मुस्कराने की।

एक जीवन की पूरी यात्रा-पूरी नियति सन्निहित है इन पदावलियों में। आचार्य जहाँ एक तरफ तत्वचिंतक की हैसियत रखते हैं, गांधीवादी मानववादी चिंतन की अस्तित्विक पहचान उनके यहाँ दिखती है, वहीं उनके भीतर निवास करने वाले एक सुकोमल चित्त वाले कवि से भी भेंट होती है जो 'सनातन' और 'चिति' का उपासक है। अज्ञेय ने लिखा था कि : "कवि गाता है : अनुभव नहीं/न ही आशा-आकांक्षा : गाता है वह/अनघ/सनातन जयी।" यह चिंतनता आचार्य की कविताओं में सूक्ष्म रूप में मौजूद है जो समय के सुदीर्घ अंतराल के बावजूद कुम्हलाने वाली नहीं है। वह मानवीय भावनाओं की एक सतत उपस्थिति है। आचार्य इसी सतत्या के अनुगायक हैं। अछोर समय के बहते संगीत के श्रोता हैं। अपने कवि-स्वभाव का परिचय देते हुए वे एक कविता : 'भाषा से प्रार्थना' में कहते हैं : वह-एक शब्द है/एक शब्द है तुम/भाषा से मेरी बस यही प्रार्थना है/तुमको 'वह' न कहना पड़े/इसलिए खोजने दो/अपने में अपने 'मैं' को मुझे-/शब्द है वह भी। उनकी कविता इसी 'मैं' का सम्मोहक विस्तार है।

अत्यंत सक्रिय और गंभीर समीक्षक। समकालीन हिंदी कविता पर पैनी नजर। दिल्ली में रहते हैं।
संपर्क : 09696718182

अपने 'मैं' को अपने में खोजते हुए इस कवि को भले ही कोई निज की चित्त वृत्ति का प्रकाशक माने, अंततः कविता का प्रदेय क्या यही नहीं है कि हम उसमें अपना अक्स देख सकें। वह समाज का दर्पण होने के पहले कवि का अपना दर्पण भी तो है। हालांकि आचार्य ने एक जगह कविता को दर्पण नहीं, चाकू बताया है- आत्मा में गहरे तक धँसा, न जिसको रख पाना मुमकिन, न निकाल पाना। तथापि, आचार्य ने अपनी कविता को समाज का दर्पण होने के पहले निज का मन-मुकुर बनाया है। उनकी कुछ कविताओं के हवाले से मैं कहना चाहता हूँ कि प्रेम कविता किस तरह हमारे चित्त को बींधती है, इसे कोई कवि ही महसूस कर सकता है। जिसका अनुभव जितना व्यापक, संवेदी और गहरा होगा, उसकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही अनूठी और वेधक होगी। उनकी तमाम कविता इस बात की गवाही देती हैं: शब्द से ही रचा गया है सब कुछ/यह मैं नहीं मानता था/जब तक मैंने/नहीं सुनी तुम्हारी आवाज/हर पल ही/रचती रहती है/संसार जो मेरा। (तुम्हारी आवाज)। तुम्हारी नींद में जागा हुआ हूँ मैं/मेरे ध्यान में सोयी हुई हो तुम (नींद में जगता)। आना जैसे आती है सांस/जाना जैसे वह जाती है/पर रुक भी जाना कभी कभी/जैसे वह रुक जाती है। (रुक भी जाना कभी)

आचार्य की कविता जैसे मनुष्य की धीमी से धीमी आवाज़, पदचाप और ख्वाहिशों को दर्ज करना जानती है। 'इतनी शक्लों में अदृश्य' की पहली ही कविता 'सच हूँ या सपना हूँ-कैसे कहूँ/यह तो तुम्हें कहना है/जिसका सच हो पाता मैं/या रह पाता सपना।' उनके इस मिजाज की गवाही देती है। खुशबू है प्रतीक्षा जब, रूह की छाजन में और काल सपना देखता है-खंडों में उपनिबद्ध आचार्य की कविता सूनेपन और नीरवता में अपने रंग बिखरती हैं। छोटी-छोटी कविताओं के संसार से बनी ये सारी कविता जैसे एक धारावाहिता का हिस्सा हों, जैसे डायरी के पन्नों पर रोज ब रोज कुछ न कुछ टांकी गयी इबारतें हों। जीवन जो तमाम जंजालों से घिरा है, उसमें फुर्सत के कुछ पलों को सृजन के कतरों में बिखेर देना ही जैसे आचार्य के कवित्व का लक्ष्य हो। इन कविताओं के बिम्ब बहुल संसार में कहीं झरे पत्तों की सुलगन है, मन के अतल अँधियारे हैं, सघन कोहरे को चीरती चिड़ियों की आवाज है, आकाश में बदलती पुकार है, धरती के साज़ पर बारिश की अनुगूँजें हैं, ओठों की कोरों में काँपती स्मिति-सी किरणाभा है, आवाज़ की बारिश में भींगना है, अपनी कविताओं में भी उसी की अनुगूँजों को सुनना है। मुलाहिजा जो ये पंक्तियाँ कब मालूम था मुझको/उस आवाज़ की अनुगूँज भर हूँ मैं/अपनी कविता में जब तक/मैंने सुना नहीं उसको/खुद को सुनना है कविता/या अपनी आवाज़ में सुनते रहना उस को।

आचार्य की कविता की गैलेक्सी लघु तारिकाओं-सी क्षणिकाओं से भरी है। एक-एक प्रेक्षण एक एक कविता में ढल कर संवेदना का अंश बन गया है। यहाँ आचार्य के अनुभवों की मुलायम वीथियाँ है। सच कहा जाए तो इन कविताओं में आचार्य का अपना मिजाज ही बोलता है। वे सफर में रहते हैं तो उनका सैलानी भाव बोलता है, वे प्रकृति के मध्य बिरम रहे हों तो जंगल, बादल, बारिश, चिड़िया, सन्नाटा और अपने दार्शनिक एकांत में हों तो दर्शन बोलता है उनकी कविताओं में। लय से प्रलय की झंकार सुनाई देती है। जीने की बेतुकी में अतुकांत कविता सुन पड़ती है। आचार्य के इस संग्रह को पढ़ते हुए उर्दू शायरी से उनका प्रेम जाहिर होता है। अक्सर अपनी कविताओं की जड़ों तक पहुंचने के लिए वे गालिब, इकबाल, फानी बदायुँनी तथा जौक को उद्धृत करते हैं। काल सपना देखता है कि कविता काल, मृत्यु, व्यर्थता के रूपकों में अनुभवों को सिरजा है। वे काल को बहेलिया व आत्मभक्षी के रूप में चिह्नित करते हैं। एक वृक्ष के अंततः काठ में परिणत हो जाने की कथा को वे बड़ी मार्मिकता से एक कविता में दर्ज करते हैं : हरा भी था कभी/कट/ कर हो गया जो काठ-/किसी की कुर्सी, किसी की मेज, किसी की खाट/लाठी भी किसी की कभी-होता रहा है वह/कटते-छिलते बच रहा है जो-बुरादा थोड़ा, कुछ छिलके-/वह भी इंतजार में है/किसी की बोरसी के लिए। (बच रहा है जो)-इस बहाने शायद वे मनुष्य जीवन की सार्थकता जताना चाहते हैं। इस तरह सपनों, प्रतीक्षाओं तथा प्रकृति के सघन अवलोकनों और प्रेक्षणों से बनी आचार्य की कविता एक दीवाने का ख्वाब बन कर महुए के फूल की तरह टपटप बरसती हैं। एक कवि का अकेलापन इस ख्वाब को कितनी कितनी शक्लों में चित्रित करता हुआ दिखता है। चेतना में वेदना की हल्की खरोंचें रचती हुए ये कविता कवि के चित्त का जैसे पूरा नक्शा उकेर देती हैं।

इन कविताओं से आचार्य का जो मिजाज सामने आता है, वह सामान्यतः एक रोमैंटिक कवि का-सा लगता है। वह है भी इस अर्थ में कि कविता में रोमैंटिक होना कवि के लिए अपकर्ष का कारण नहीं है। पूरी योरोपीय रोमैंटिक कविता गवाह है कि मानव-मन के रहस्य को उकेरने-व्यक्त करने में उसने कामयाबी हासिस की है। इन प्रेम कविताओं में एक निरलंकृत है किंतु अपनी पूरी झंकृति के साथ। एक परिष्कृत है अपनी सुसंगति के साथ। समकालीनता की माँग हम हर कवि से नहीं कर सकते। नंद किशोर आचार्य समकालीनता में साँस लेते हुए भी समय के पार जाने वाले कवियों में हैं। बहुत बोलने वाली कविता उन्हें स्वीकार्य नहीं है। आखिरकार वे अज्ञेय के शिष्यों में हैं जिसे सन्नाटे का छंद बुनना भला लगता रहा है तथा जिन्होंने कहा भी है : 'शोर के इस संसार में मौन ही भाषा है।' अकारण नहीं कि बार बार आचार्य खामोशी की ओर लौटते हैं और उसमें डुबती लगाते हुए एक विरल अर्थ खोज लाते हैं। क्योंकि बकौल कवि, "निरर्थक ध्वनि ही तो है वह/जिसे अपना अर्थ दूँगा मैं.../मेरी कहन होगी वह।" आचार्य इसी 'कहन'...इसी 'गहन मौन के कवि हैं। अपनी तरह से कविता की तलाश में यायावरी करते हुए वे आखिरकार यही सवाल करते हैं....'और क्या होता है होना/कविता होने के सिवा.../एक लय चुप कर देती है अपनी खामोशी में लेती हुई मुझे।'

नंदकिशोर आचार्य की कविता पढ़ने के बाद हमारे मन में कुछ वैसी ही अनुगूँज बची रह जाती है जैसे मंदिर में की गयी प्रार्थना की पुकार। धूप, दीप, नैवेद्य से सुवासित वातावरण में व्याप्त सुगंध। वे अपनी कविताओं में मानवीय सुगंध का एक कोना हमेशा बचाए रखते हैं। सच तो यह कि आज की अति-वाचाल कविता के इस शोरगुल में उनकी कविता आत्मा के उपचार की तरह है, जिसकी जरूरत आज सबसे ज्यादा है।

समीक्षा

टेढ़ा लड्डू घी का

पर्यावरण

■अरविन्द मोहन

मेवात का जोहड़
राजेन्द्र सिंह
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली
मूल्य : 400/-

महत्वपूर्ण समाचार-पत्रों में संपादकीय जिम्मेदारियों के साथ एक लंबी अवधि राष्ट्रीय हिंदी पत्रकारिता में गुजारने के बाद इन दिनों दिल्ली में रहते हुए स्वत्रंत लेखन।

संपर्क : 09811826111

पानी मनुष्य के जीवन का आधार है। जीवन और मनुष्य की तलाश के पहले पानी की तलाश होना आम है। और इतना ही बडा तथ्य यह भी है कि सभी सभ्यताएँ पानी के आसपास ही विकसित हुईं। पर यह हम सभी भारतीयों के लिए गर्व की बात है कि पानी सम्भालने और होशियारी से इस्तेमाल के मामले में हमारी बराबरी दुनिया में कोई नहीं कर सकता। शायद यही भारत की समृद्धि का कारण रहा जिसके चलते भारत को सोने की चिड़िया कहा गया। जिस दौर में ब्रिटेन की राजशाही के खजाने में लाख वाले हिसाब से कर आता था, उस दौर में हमारे मुगल मनसबदारों की आमदनी करोड़ों में थी। राजस्थान के रेगिस्तानी इलाकों में जितनी कम बरसात होती है उतनी कम बरसात वाले इलाकों में दुनिया में कहीं इतनी आबादी नहीं रहती। साफ कहा जा सकता है कि पानी के बेहतर संरक्षण और उपयोग के चलते ही ऐसा सम्भव है, और सदियों से जल-संरक्षण के काम में हमारे ज्ञान और कौशल ने भी तरक्की की है पर ऐसे लाखों स्रोत हैं जो सैकडों साल से हमारे काम आ रहे हैं। जाहिर तौर पर समाज ने पानी के काम से कभी मुँह नहीं मोड़ा होगा पर यह भी हुआ है कि अंग्रेजी गुलामी और पश्चिमी सम्पर्क के दौर में हम सभी लोग पारम्परिक जल संचय के ज्ञान और साधनों को पुरानी और कुछ घटिया या कमतर चीज मानने लगे। अन्ध शहरीकरण ने, जो पानी की ज्यादा विकसित व्यवस्था वाली जगहों पर ही हुए ऐसे जलस्रोतों को भी समाप्त किया या उनको अशुद्ध किया। यह क्रम चलता ही जा रहा था और चल रहा है। इसी क्रम में आज से कोई तीस साल पहले गांधीवादी कार्यकर्ता अनुपम मिश्र ने एक विलक्षण किताब लिखी- 'आज भी खरे हैं तालाब', जो सारी उपेक्षा और दुत्कार झेलकर भी समाज के लिए उपयोगी साबित होने वाले लाखों तालाबों के महत्व को रेखांकित करती है। यह किताब पानी के काम, पर्यावरण के काम, हिन्दी के साहित्येत्तर लेखन के मामले में एक मील का पत्थर साबित हुई और इसकी लाखों प्रतियाँ बिकी हैं। पर बिक्री से ज्यादा महत्वपूर्ण बात है इस किताब की प्रेरणा से तालाबों और दूसरे जलस्रोतों के प्रति नजरिया बदलना। सैकड़ों तालाबों का जीर्णोद्धार हुआ, कई जगह जलसंग्रह के नए साधन तैयार किए गए और सैकडों लोग इसकी प्रेरणा से पानी के काम में लगे। ऐसे ही लोगों में मैगसेसे पुरस्कार से सम्मानित राजेन्द्र सिंह भी शामिल हैं। राजेन्द्र जेपी आन्दोलन से सक्रिय हुए थे और कैरियर तथा सामाजिक काम के चुनाव के द्वन्द्व से जूझ रहे थे तभी अनुपम जी की किताब आई। इसने राजेन्द्र के चुनाव को आसान कर दिया। और उत्तर प्रदेश के इस नौजवान ने राजस्थान और पानी के काम का चुनाव किया। और फिर क्या किया यह दुनिया जान चुकी है। हालत यह हो गई कि छोटे-छोटे बान्धों से पानी रोककर पानी और जमीन की नमी को बचाने का उनका अभियान एक बडे इलाके के जीवन और उत्पादन चक्र को पूरी तरह बदलने और खुशहाली लाने में सफल रहा है। फसल, पेयजल, जानवरों-पक्षियों के लिए पानी का ही नहीं चारे और हरियाली का इंतजाम हो गया। पर जल्दी ही कई और नतीजे निकले। जब जमीन की नमी बढ़ी तो पहाड़ी जगह से जल के पुराने सोते फूट पडे। इन सोतों ने उन पुरानी नदियों का रूप और मार्ग पकड़ने में

देरी नहीं की जो कभी अरावली की इस पर्वत-श्रृंखला में बहती थीं। हरियाली और जंगल बढ़ने का यही अकेला नतीजा न था। पेड़-पौधे, पशु-पक्षी सब वापस जी उठे।

नदी आई तरे मछलियाँ भी आईं। जंगल और जंगली जीवन पर तो उसी वन विभाग ने हक जताया जो पहले छोटे बांध बनाने का विरोध करता था और जिसने पुलिस मुकदमा सबसे इसे रोकना चाहा था। पर नदियों की मछलियों पर किसका हक हो यह विवाद का विषय बना। इन सब पर बाजाप्ता लड़ाई हुई। एक और दिलचस्प बात हुई। जंगल घने हुए तो शेर भी आ गया। अब वन विभाग के पसीने छूटने लगे पर गांव वाले निहाल हो गए। उन्हे लगा कि जंगल के राजा ने उनके काम को फाइनल सर्टिफिकेट दे दिया है। अब कहने मेम यह सब कहानी तो पैरा-डेढ पैरे में सिमट गई पर राजेन्द्र और उनके साथियों और उनकी प्रेरणा से उन्हीं गांव वालों ने यह सब काम कैसे किया यह एक बहुत बडी और मुश्किल दास्तान होगी। आखिर गांव वाले तो वही थे, जिन्होने कभी जंगल काटे होंगे और पानी के पारम्परिक स्रोतों को बर्बाद होने दिया होगा या खुद से बर्बाद किया होगा। और राजेन्द्र भी कोई अल्लादीन की चिराग लेकर नहीं गए थे। उन्होंने स्थानीय लोगों के सहयोग से, उनके ज्ञान और हुनर से, प्रकृति की उनकी समझ से और उन सबकी भागीदारी से ही यह काम सम्भव किया होगा। स्थानीय परम्पराओं, संस्कृति और संस्कार से मदद ली होगी।

उनकी किताब 'मेवात का जोहड' कायदे से तो इसी चीज का दास्तान है और अभी जो किस्सा बयान हुआ वह इस किताब और उनकी संस्था तरुण भारत संघ द्वारा प्रकाशित पुस्तिकाओं से लिया गया है। पर जो लोग इस सीधे-सीधे किस्से के उम्मीद से इस किताब को पढ़ेंगे उनको थोड़ी निराशा होगी। और इस समीक्षक की मानें तो यह सक्रिय कार्यकर्ता राजेन्द्र को लेखक के रूप में उतनी बड़ी सफलता न पाने का प्रमान है। पर ऐसा क्यों हुआ है इसका सिर्फ अन्दाजा लगाया जा सकता है। हर अच्छा एक्टिविस्ट अच्छा लेखक भी हो जाए यह जरूरी नहीं है। दूसरी गड़बड़ ज्यादा जानकारी से भी होगा। बहुत परिचित विषय होने से एक- एक छोटी बात का क्या महत्व है यह छिप जाता है। फिर अपनी यात्रा को शुरु करने से लेकर इस मुकाम तक पहुचाने में राजेन्द्र सिंह ने क्या किया है, सम्भवतः उन्हें भी इसका एहसास नहीं है। और सिर्फ इस विवरण को देकर वे हमारा आपका कितना भला करेंगे, सम्भवतः इसका भी उनको अन्दाजा नहीं है।

सो वे अपनी संघर्ष-गाथा के विवरण देने की जगह मेवात के जीवन, संस्कृति का परिचय देने और पूरे राजस्थान में प्रचलित जौहर प्रथा को असल में पानी के प्रति समाज के कमिटमेंट के रूप में पेश करने में ही लगे रहे। इसी क्रम में वे गांधी के काम, जो मुख्यत; विभाजन के सम्य उभरी साम्प्रदायिकता की आग को ठंडा करने का था, को भी जौहर के रूप में पेश करते हैं और अपने काम को उसी निरंतरता में बताते है।

ऐसा उनका मानना हो सकता है। जो ब्यौरे आए हैं उनसे लगता है कि वे सिर्फ पानी भर काम नहीं कर रहे हैं। लेकिन पानी के इतने बडे काम को पहले मूल रूप में ही जानने-बतलाने की जरूरत है और थी। मेवात के लोगों की साझा संस्कृति, उनकी मुश्किलों, उनके संसाधनों की लूट और विभाजन से मिली बर्बादी के अपने किस्से महत्वपूर्ण है। पर राजेन्द्र सिंह और तरुण भारत संघ के सन्दर्भ में पानी और उसमें भी जोहड का काम महत्वपूर्ण है। यह वह इलाका है जहाँ जमीन के थोडा ही नीचे जिप्सम की एक परत चलती है। और अगर ज्यादा पानी जमा हो जाए तो यह घुलकर ऊपर आ जाती है और जमीन की उर्वरा सदा के लिए समाप्त हो जाती है। ऐसे में छोते बांध और उनसे थोडा-थोडा पानी जमा करने की पुरानी और अब राजेन्द्र की मंडली द्वारा अपनाया गया तरीका ही महत्वपूर्ण है। सो कायदे स जौहर और ज्यादा ऊंची बातें करने की जगह अपने काम, फैसलों और उनके अस र्का विवरण देना ज्यादा लाभकर और रोचक होता। कई बार आपको किताब में विभाजन के समय गान्धी की सभा स शुरुआत करके मेवात के भूगोल, वहाँ के लोगों की साझा संस्कृति, उसमें पानी का ज्ञान और अब चल रहे अभियान के बीच एक तार जुड़ता लगेगा और शायद यही सोचकर राजेन्द्र ने इसे सिर्फ अपनी कहानी या अपना गुणगान करने की जगह मौजूदा रूप में रखा है। फिर पानी के सहारे गांव और इस पूरे इलाके के कुल जीवन पर पडन वाले प्रभाव तथा ग्राम स्वराज की बापू की कल्पना के साकार होने की कहानी भी महत्वपूर्ण है। सिर्फ पानी की ही बात नहीं है, मेवात में बनने वाले 40 शराब कारखानों पर रोक जैसे आन्दोलन चलाना और उनका विवरण दिलचस्प है। पर मुख्य बात तो पानी और उसके लिए हुए प्रयास ही हैं। और जब काम और असर में अपना विवरण कंजूसी करे या कमी रख दे तो इसे होशियारी नही कहा जा सकता।

गान्धी की बातें महत्वपूर्ण हैं पर वह आपके मुख्य काम से सीधे नहीं जुडतीं। राजेन्द्र ने इसी दिशा में काम करते हुए विभाजन के समय की कई सारी ऐतिहासिक तस्वीरें जमा करके उसी रंग को और गाडा किया है- अपन पानी वाले काम और की तस्वीरें उन्होने दी ही नहीं हैं जबकि इन्हें छापना और जुटाना आसान था। सिंचाई और जलवायु का ऐसा काम तो गांधी बाबा का ही है।

इस किताब की भाषा, उसका विषय, उसकी पोटोग्राफी, उसका प्रोडक्शन और उसके असर को दोहराना असम्भव है। उस किताब में भी सहज विवरणों के साथ कई बार बहुत ऊंचे दर्शन और समाज के ज्ञान और परम्परा का गुण गान हुआ है। यह असर काम में सहायक और लेखन में नुकसानदेह हो, यह तो स्वाभाविक बात नहीं है। पर इस किताब के साथ यही हुआ है। इसमें जो सम्भावनाएँ थीं वे पूरी नहीं हुई हैं। अच्छा है कि काम होकर यह कमी रही है-इसे ही कहते हैं घी का लड्डू टेढा भला। किताब में पर्याप्त जानकारियाँ हैं, काम अच्छा हुआ है और प्रयास बडा है।

समीक्षा

पीली शब्दावली के रहस्यों को बेनक़ाब करना

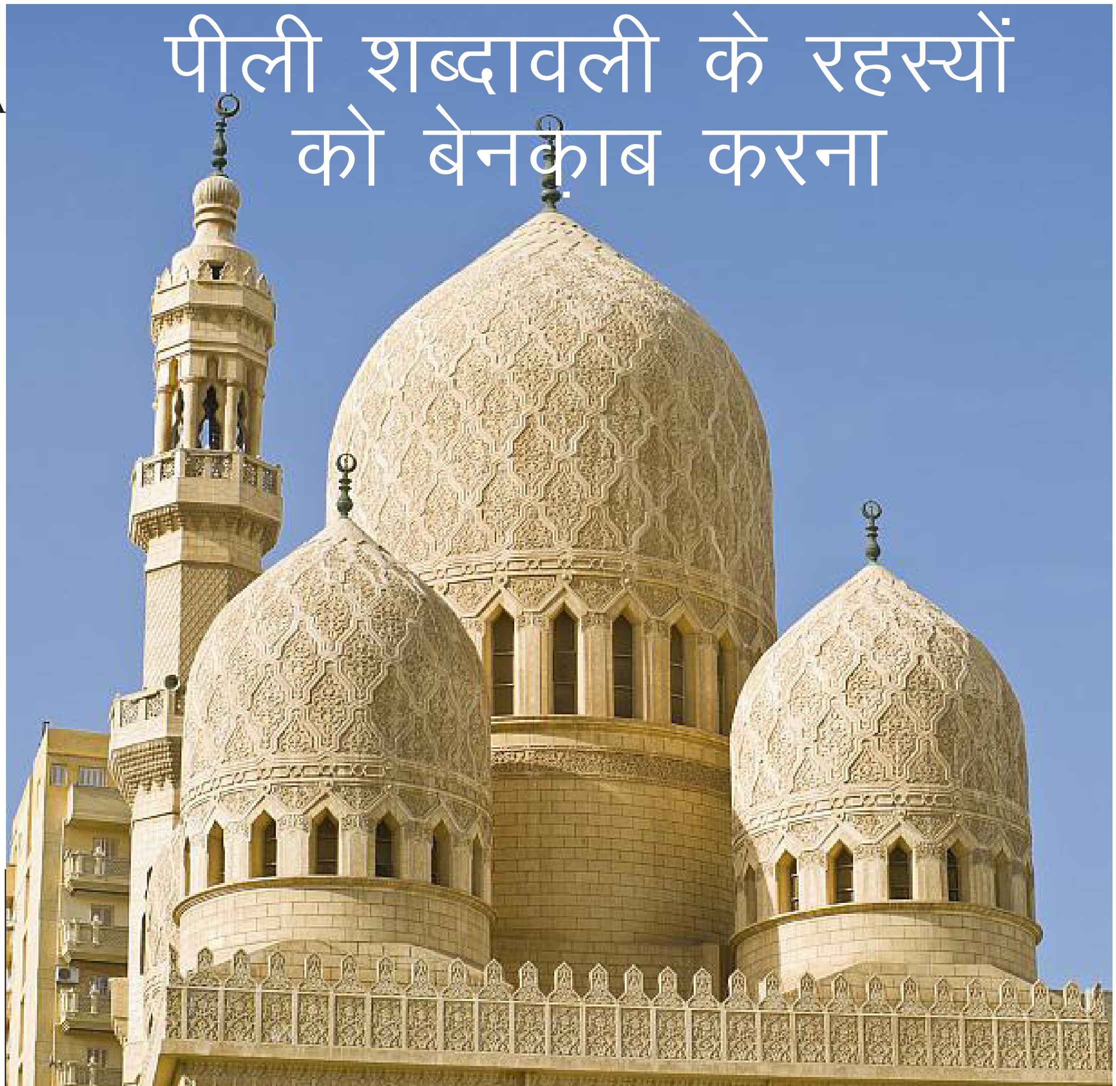

कथा डायरी

■ शंभु गुप्त

ज़िंदा होने का सबूत
(कथा-डायरी)
जाबिर हुसेन
राजकमल प्रकाशन,
नई दिल्ली (2013)
मूल्य : 300/-

जाबिर हुसेन की कथा-डायरियों का नया संकलन 'ज़िंदा होने का सबूत' लेखक के पिछले संकलनों से पर्याप्त नयापन लिए हुए है। कथाशिल्प ही नहीं, विषयवस्तु और उसके आशय भी नए और भिन्न हैं। हिन्दी में कथा-डायरी एक नई विधा है; जाबिर हुसेन जिसके फ़िलहाल अकेले लेखक हैं। जाबिर हुसेन ने एक नई विधा हिन्दी को दी है।

कथा डायरी, एक बहुत ही संगीन विधा है। इन्हें पढ़ते हुए बार-बार हमें यह महसूस हुआ है, जैसे हम एक दुधारी तलवार या दोनों तरफ़ आग के बीच बनी एक बहुत ही पतली और सँकरी पगडंडी पर चल रहे हों। यहाँ कब कथा होगी और कब डायरी; अनुमान नहीं लगाया जा सकता। यहाँ लेखक कब लेखक होगा और कब एक व्यक्ति; कहना मुश्किल है। 'ज़िंदा होने का सबूत', 'गुंबद है ख़ाली', और 'काले जिस्मों की आग' के अन्तिम अंश देखे जा सकते हैं।

कथा डायरी कहानी डायरी के रूप में परावर्तित होकर एक नवोन्मेष ग्रहण करती है। होती वह मूलतः कहानी ही है लेकिन डायरी में बदलते चले जाने के कारण कहानी से बहुत दूर और भिन्न होती जाती है। डायरी व्यक्तिगतता या आत्मगतता से लैस संरचना होती है। लेकिन कथा डायरी में निहित लेखक की उपस्थिति और व्यक्तिगतता में तात्विक अन्तर है। कथा डायरी में लेखक निजी अनुभवों को कच्चे माल की तरह नहीं, बल्कि केन्द्रीय वस्तु के बतौर सामने लाता है। निजी अनुभव वहाँ केन्द्र में होते हैं। लेखक का प्रस्थान बिन्दु वही होते हैं और सारी बात उन्हीं के इर्दगिर्द घूमती रहती है। लेखक बात अपने निजी अनुभवों से शुरू करता है, फिर इन अनुभवों को वह आत्ममुक्त करता है और फिर आत्ममुक्ति को एक रचनात्मक और सामान्यीकृत ऊँचाई तक ले जाते हुए वापस अपनी निजी परिसीमा में लौटा लाता है। कथा-डायरी एक साथ वस्तुपरक और आत्मपरक दोनों स्तरों पर आवाजाही करती है। लेखक अपने हिसाब से दुनिया को और दुनिया के हिसाब से अपने-आप को बार-बार और तरह-तरह से देख सकने की रचनात्मक स्थिति में होता है।

पाठक के सामने यहाँ एक साथ एकाधिक दुनिया खुलती नज़र आती हैं। एक, वस्तुगत यथार्थ की, दूसरी ख़ुद लेखक की अपनी आनुभविक-वैचारिक दुनिया। ये दोनों

कहानी आलोचना में प्रतिष्ठित नाम। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के 'स्त्री अध्ययन' विभाग के हेड रहते हुए लगातार लेखन में व्यस्त।
संपर्क : 08600552663

पृथक नहीं हैं बल्कि परस्पर संगुंफित और संश्लिष्ट हैं। इनसे पाठक को एक नवोन्मेषी अन्तर्दृष्टि उपलब्ध होती है। लेखक का यथार्थ का पर्यवेक्षण, 'स्टैंड', आख्या, पेशकश; ये सब चीजें मिलकर यथार्थ को एक नया संदर्भ देती हैं। यह नया संदर्भ ही लेखक की रचनात्मक पहचान बनता है।

कथा-डायरी में लेखक सीधे-सीधे यथार्थ का विवेचन-विश्लेषण, नुक्ताचीनी, लानत-मलामत कर सकता है और अपना अभिमत दे सकता है। यह सब-कुछ वह यहाँ कथात्मक तरीक़े से ही करता है। डायरी विधा के सहकार से यह अवसर वस्तुतः उसे मिलता है। 'लेकिन मैं' शीर्षक कथा-डायरी का अन्तिम अंश इस दृष्टि से देखा जा सकता है, जहाँ तुलाराम घर में घुसते-घुसते जीने पर अटका रह जाता है।

जाबिर हुसेन की बहुत-सी कथा-डायरियाँ ऐसी हैं जो निखालिस एक कहानी जैसी अनुभूति कराती हैं। यहाँ लेखक का शब्द एवं वाक्य-विन्यास, घटना-निबन्धन, बात को कहने का सलीक़ा यथार्थ-निरूपण कुछ ऐसा है जैसे वह सारी बातों को अपने पर लेकर कह रहा हो। यह लेखकीय आत्मीयता इन कथा-डायरियों की जान है। इनकी विषय-वस्तु आम जन-जीवन के एक़दम क़रीब की है। लेखक सचेत भाव से यह तंत करके चला है कि उसे आम लोगों की कहानी कहनी है-"मेरी और गोपा की कहानी, सिकलू और हंसी की कहानी।... इस पहाड़ी टीले के नीचे वाली बस्ती" की कहानी, जहाँ "नंगे और भूखे लोग मिलते हैं, बीमार बच्चे दिखाई देते हैं। हर तरफ़ बदहाली नज़र आती है, मौत का खेल नज़र आता है।" (वही, पृ. 55)।

ज़िन्दगी के ठसपन के ख़िलाफ़ ज़द्दोज़हद इन कथा-डायरियों का एक बड़ा मक़सद है। यहाँ लेखक कोई ईरान-तूरान की नहीं हाँकता, किसी विचार-प्रणाली का बोझ सिर पर नहीं ढोए फिरता, किसी दूर या पास की कौड़ी का चक्कर नहीं चलाता। इसके स्थान पर वह अपने आस-पास फैले और अपनी स्वाभाविकता में जीते और अपना वाज़िब हक़ माँगते सामान्य लोगों के ज़िन्दादिल चित्र खींचता है और ख़ुद को उन्हीं में रमा देता है। वह अपनी तरफ़ से चलकर उन तक पहुँचता है और ख़ुद को उनमें इस क़दर घुला-मिला देता है कि पाठक को यह होश ही नहीं रहता कि यहाँ लेखक और वस्तु दो अलग-अलग चीज़ें हैं। कथात्मक वस्तुपरकता यहाँ पृष्ठभूमि में चली जाती है। रचनात्मक द्वंद्वता की यह उच्चतम कोटि है, जहाँ लेखक वस्तु में तिरोहित होता-सा जान पड़ता है। जैसे 'काले जिस्मों की आग' में लेखक सातवीं मंज़िल के कथित तिलिस्म को तोड़ते-तोड़ते यहाँ तक भी पहुँचने में क़तई नहीं हिचकता-"अंधेरे में अचानक ही मेरा बौना, कीड़े-मकोड़ों जैसा बदन उस दीवार से टकराया, जहां बड़े क़द का एक आईना टंगा था। आईना मेरे बदन से टकराकर एक लम्हे को हिला, फिर सातवीं मंज़िल के चमकदार फ़र्श पर गिरकर चूर हो गया।" (वही, पृ.- 110)। यह सारी प्रक्रिया लेखक के अपने वैचारिक संलक्ष्य के प्रति पहलधर्मी कार्यकर्तापन के तहत उसके जाने-अनजाने अवघटित होती है। लेखक का पहलधर्मी कार्यकर्तापन ख़ुद लेखक को उलांघकर अपने लक्ष्य तक पहुँचने का उपक्रम करता है। पहलधर्मी कार्यकर्तापन विशुद्ध रूप से डायरी विधा का अभिलक्षण होता है। कहानी के साथ नत्थी किया जाकर यह कार्यकर्तापन कहानी को आन्दोलन के नज़दीक़ ले जाता है। जाबिर हुसेन की इन कथा-डायरियों में हमें जो एक संज़ीदग़ी, भावुकता, बेचैनी, तड़प, किसी के लिए कुछ कर गुज़रने की ठोस और व्यावहारिक आकांक्षा लग़ातार दिखाई देती है तो उसके पीछे लेखक का यही पहलधर्मी कार्यकर्तापन सक्रिय है।

इसी पहलधर्मी कार्यकर्तापन का यह नतीज़ा है कि 'काले पत्थरों की गुफ़ा' की ममा अपने पति द्वारा अपने कैरियर के निर्माण में पत्नी के दैहिक इस्तेमाल की कुत्सा का प्रतिरोध कर सकी। जाबिर हुसेन इस कथा-डायरी में बौद्धिकता और वैचारिकी के सौदेबाज़ीमूलक खेल को बहुत ही सारगर्भित और सांकेतिक/नामालूम तरीक़े से पेश करते हैं। यह हमारे यहाँ का नया बाज़ारवाद है, नए बाज़ारवाद का अपनी तरह का भारतीय संस्करण है जिसमें आगे बढ़कर भूमंडलीकरण का वैधानिकीकरण किया जाता है। जाबिर हुसेन का हस्तक्षेप यह है कि वे हाथ के हाथ इस पूरी प्रक्रिया पर 'चैक' लगाते हैं और भारतीय संदर्भ से ही उसकी काट खड़ी करते हैं। ममा इसी रूप में हमारे सामने उपस्थित होती हैं। यहाँ व्यक्ति के वस्तु बनने की प्रथा का निर्मूलन भी दिखाई देता है।

मूल्यवत्ता और व्यक्ति की अस्मिता–इयत्ता की पैरोकारी हुसेन की इन कथा–डायरियों की मूलभूत अन्तर्वस्तु है। 'खेल शायद ख़त्म हो चुका है' 'अंगारे और हथेलियां', 'धुएं की बू', 'गद्दी', 'अंकल माइक'; इन सबमें सत्ता के साथ व्यक्ति की यही मूल्यनिष्ठ टकराहट देखने को मिलती है। इस अन्तःसंघर्ष में व्यक्ति से ज़्यादा सत्ता बेनक़ाब होती देखी जाती है।

मूल्यवत्ता और व्यक्ति की अस्मिता-इयत्ता की पैरोकारी जाबिर हुसेन की इन कथा-डायरियों की मूलभूत अन्तर्वस्तु है। 'खेल शायद ख़त्म हो चुका है' 'अंगारे और हथेलियां', 'धुएं की बू', 'गद्दी', 'अंकल माइक'; इन सबमें सत्ता के साथ व्यक्ति की यही मूल्यनिष्ठ टकराहट देखने को मिलती है। इस अन्तःसंघर्ष में व्यक्ति से ज़्यादा सत्ता बेनक़ाब होती देखी जाती है।

जाबिर हुसेन की कथा-डायरियाँ एक यूटोपिया या स्वप्नशीलता या संभवनशीलता पर जाकर पूरी होती हैं। दरअसल इसी स्वप्नशीलता और संभवनशीलता के चलते ये कथा-डायरियाँ हैं। ये न होतीं तो यहाँ विडंबनात्मकता और पस्तहिम्मती का आलम होता। इनमें यथार्थ के साथ-साथ लेखक का अपना आत्मसंघर्ष भी छुपा है। इनकी सृजनात्मकता का मूल स्रोत यही उभयपक्षीय संघर्षशीलता है। यह संघर्षशीलता पाठक में जाकर परावर्तित होती है और वह इसका तीसरा पक्ष बनता है। पाठक इन कथा-डायरियों की लेखकीय रचना-प्रक्रिया का संघटक हिस्सा है।

मसलन, 'पीली इबारत' में शब्द और अर्थ के अन्तर्सम्बन्धों की पहचान के कुछ नए सन्दर्भों की खोज की गई है जो शब्दार्थ-निरसन की परम्परागत प्रक्रिया को पूरी तरह उलट देती है। जाबिर हुसेन अपनी इस छोटी-सी कथा-डायरी में भाषा के उत्तर-संरचनावादी स्वरूप-विश्लेषण को हृदयंगम करते हैं और परम्परावाद के हिडेन एजेंडे की दुखती नस पर उँगली रखने से नहीं चूकते। वे शब्दों के उस "पार्श्व-अर्थ" को पकड़ने में कामयाब होते हैं, जो उनके "पारदर्शी अर्थों से ज़्यादा मारक होते हैं।" (वही, पृ. 123)। स्पष्ट है कि जाबिर हुसेन यहाँ भाषा के उस सत्तावादी तिलिस्म को तार-तार कर सके हैं, जो अमूमन लोगों की पकड़ में नहीं आता। लेखक अपनी पिछली कथा-डायरियों के शिल्प को पीछे छोड़ता हुआ यहाँ एक नया कथा-शिल्प अपनाता दिखाई देता है; एक ऐसा कथा-शिल्प जो समय की शाब्दिक चुनौतियों से दो-दो हाथ कर सके। जाबिर हुसेन के कथा-शिल्प की यह नई क्षमता बरबस हमें काफ़्का और मंटो की उन छोटी-छोटी कहानियों की याद दिलाती है, जो अपने एकदम अलग अन्दाज़ में पीली शब्दावली के रहस्यों को बेनक़ाब करने के लिए पूरी दुनिया में जानी जाती हैं।

समीक्षा

साहित्य चिन्तन पर कुछ सवाल

निबंध

■ **बीरपाल सिंह यादव**

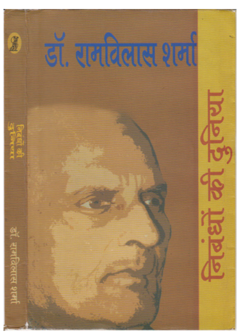

निबंधों की दुनिया :
डॉ. रामविलास शर्मा
प्रधान सम्पादक
डॉ. निर्मला जैन
संपादक
डॉ. रामेश्वर राय
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली
मूल्य : 300/-

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा के साहित्य विभाग में अध्यापन।
संपर्क : 08055290240

'निबन्धों की दुनिया' शृंखला में इस बार हैं 'डॉ. रामविलास शर्मा'। जैसा कि इस शृंखला की प्रधान संपादक निर्मला जैन कहती हैं 'इस शृंखला में जो संकलन पाठकों के सामने आ रहे हैं, उनके लेखकों और रचनाओं का चुनाव निर्बंध रूप से संपादकों के द्वारा किया गया है न किसी प्रवृत्ति या प्रकार क्रम के अनुरूप। 'रामविलास जी के 'निबन्धों की दुनिया' का सम्पादन डॉ. रामेश्वर राय ने किया है, वे इस संकलन के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "इस संकलन में डॉ. रामविलास शर्मा के विपुल लेखन में से ऐसे निबन्धों का चयन किया गया है, जिनसे उनके सैद्धान्तिक आधारों, रचना के मूल प्रतिमानों एवं स्थापनाओं का उद्घाटन हो सके।" (भूमिका से)

इस संकलन के निबन्ध रामविलास जी की सैद्धान्तिक बहसों को भले ही एक उँचाई देते हों, पर उनकी आलोचना की सीमाओं को भी रेखांकित करते हैं। प्रस्तुत संकलन के प्रारम्भिक दो निबन्ध 'यथार्थ जगत और साहित्य' तथा 'सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता तथा सामाजिक विकास' उनकी आलोचना दृष्टि का सैद्धान्तिक आधार तैयार करते हैं। भाववादी चिन्तन में सत्य को आत्मगत माना गया है। जगत की बाह्य-सत्ता को अस्वीकार किया गया। आधुनिक युग में इस भाववादी चिन्तन का रूपान्तरण व्यक्तिगत मनोविश्लेषणवाद और आस्तित्ववाद में हुआ। रामविलास जी ने इस भाववादी चिन्तन के बरक्स भौतिकतावादी चिंतन को खड़ा करते हुए लिखा "मनुष्य प्रकृति की उपज है, और विचार-चेतना मानव मस्तिष्कों की उपज।" (पृष्ठ-19) चेतना का स्रोत कोई अतीन्द्रिय सत्ता नहीं बल्कि यह वस्तु जगत ही है। इस वस्तुगत सत्य के आधार पर विकसित होने वाली विचार प्रणाली को यथार्थवाद कहा गया है। यह यथार्थवाद जिस वैज्ञानिक भौतिकवाद पर खड़ा है वह "वैज्ञानिक भौतिकवाद व्यवहार अनुभव और प्रयोग से परे इलहाम द्वारा ज्ञान प्राप्ति का दावा नहीं करता।" अर्थात् अनुभव और व्यवहार ही ज्ञान की कसौटी है। भाववादी चिंतन में जहां परोक्ष या अपरोक्ष रूप से यथास्थितिवाद के संरक्षण का आग्रह है, वहीं भौतिकवादी चिन्तन में संसार को समझने और उसे बदलने पर बल है।

यथार्थवाद पर उठाई जाने वाली तमाम आपत्तियों का रामविलास जी ने तर्कपूर्ण जवाब दिया है। कल्पना और यथार्थ चित्रण के परस्पर विरोध को नकारते हुए वे लिखते हैं "यथार्थवादी लेखक कल्पना द्वारा रचता है। अपने अनुभव सामग्री से काम की चीज़ें चुनता है।" (पृष्ठ-25) इसी प्रकार "आदर्श एवं यथार्थ इनमें कोई अनिवार्य विरोध नहीं है।" (पृष्ठ-25) इस प्रकार वे स्थापित करते हैं कि कला में आदर्श यथार्थ विरोधी नहीं होता। और समाज से बाहर व्यक्ति का अस्तित्व नहीं है।

भाववादी या आत्मवादी चिंतन में सौंदर्य की सत्ता वस्तु से अलग है। प्लेटो ने संसार के सौंदर्य को अपरोक्ष सत्ता के सौंदर्य का प्रतिबिम्ब माना था और कला को इस प्रतिबिम्ब का भी प्रतिबिम्ब। प्लेटो की इस भाववादी सौंदर्य दृष्टि को क्रोचे ने आगे बढ़ाया। उसने अनुभूति को ही अभिव्यक्ति माना तथा सौंदर्य को इस अनुभूति से अलग कोई वस्तु नहीं माना। यह आत्मवादी सौंदर्य की चरम परिणति थी। 'दूसरी तरफ मार्क्स और एंगेल्स ने सौंदर्य को उपयोगिता और श्रम से जोड़ा और उसके सामाजिक आधारों की व्याख्या की। 'रामविलास जी ने भाववाद और मार्क्सवाद से भिन्न धरातल पर सौंदर्य-मीमांसा की है। उनके यहाँ सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता तो है, लेकिन 'वह मूल रूप से सामाजिक विकास की देन नहीं है।' (पृष्ठ- 42) सौन्दर्य या सौंदर्यानुभव मनुष्येत्तर प्राणियों में भी मौजूद है। सौन्दर्य धारणाओं का नहीं, इंद्रियबोध का विषय है। "सौन्दर्य प्रकृति में है मनुष्य के मन में भी।" (पृष्ठ-42) कला की सार्थकता मनुष्य के सौंदर्य-बोध के परिष्कार और विकास में है।

रामविलास जी ने हिंदी साहित्य के इतिहास के विभिन्न कालखण्डों एवं काव्य प्रवृत्तियों पर लिखा है जिसका मूल्यांकन की दृष्टि से काफी महत्व है। इस संकलन में रीतिकाल, छायावाद और नई कविता से संबंधित तीन लेख हैं। उनके अनुसार 'रीतिकालीन काव्य-परंपरा हिंदी भाषी प्रदेश के सामंत वर्ग की अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक परंपरा है। वह मन की ऐसी विकृति है जिसका कोई सामाजिक आधार नहीं है। रीतिग्रन्थकार रसवादी नहीं चमत्कारवादी थे। इस काव्य में नारी केवल विलास की वस्तु थी.... भाषा के अनुप्रासों की भरमार है जो चमत्कार प्रदर्शन का सबसे घटिया रूप है।" (पृष्ठ-47) यह सब कहने के बाद रामविलास जी लिखते हैं कि "यह काव्य ऐसा नहीं है कि सब-का-सब कूड़े के ढेर पर फेंक दिया जाए। हिंदी भाषा की कुछ जातीय विशेषताएं जितनी यहाँ निखरी हैं, उतनी आधुनिक हिंदी कविता में नहीं।" (पृष्ठ-47) रीति कालीन कवियों से "आधुनिक हिंदी कवि जो बात सबसे ज्यादा सीख सकते हैं वह है शब्द चयन और शब्द योजना।" (पृष्ठ-47) हिंदी साहित्य के इतिहास में जिस रीति कालीन कविता की इतनी लानत-मलामत हुई, उसी कविता का इस तरह का सकारात्मक मूल्यांकन रामविलास जी की दृष्टि सम्पन्नता को ही प्रमाणित करता है।

छायावाद का मूल्यांकन हिंदी समीक्षा के लिए चुनौती रहा है। मार्क्सवादी आलोचना ने छायावाद को आधुनिक संदर्भों में जोड़ते हुए उसका एक नया पाठ किया है। यह

मार्क्सवादी पाठ उसके कलावादी या सौष्ठववादी पाठ से एकदम भिन्न था जिसने छायावाद को रहस्यवाद, अध्यात्मवाद और व्यक्ति के आंतरिक लोक के कोहरे से निकाल कर एक सामाजिक-ऐतिहासिक आधार दिया। हालांकि रामविलास जी ने छायावाद का मूल्यांकन निराला को केंद्र में रख कर ही किया है। उन्होंने छायावाद को पूँजीवाद से होने वाली विषम परिस्थितियों के घोर असन्तोष से जोड़ा है। छायावाद में व्यक्ति का उदय मध्यकालीन शृंखलाओं के टूटने से मनुष्य को हासिल हुई स्वाधीनता का ही परिणाम था। छायावादी रहस्य-भावना का संबंध मध्ययुगीन रहस्य परंपरा से नहीं, बल्कि अहं के विस्तार की कामना और पराजय के गहरे बोध से है। छायावाद में विद्रोह और पलायन की जड़ें भारतीय मध्यवर्ग के अंतर्विरोधों में हैं। और अंत में रामविलास जी लिखते हैं "हिंदी में छायावाद की व्याख्या करने के लिए 'छाया' से लड़ना आवश्यक नहीं है। उसे पलायनवादी, प्रतिक्रियावादी कहकर लांछित करना सरासर अन्याय है। उसमें पराजय और पलायन की भावनाएं हैं, तो विद्रोह, विजय, मानवमात्र के प्रति सहानुभूति के स्वर भी हैं। उसकी विशेषता न्यूनाधिक वही है जो अन्य भाषाओं की रोमांटिक कविता की है।" (पृष्ठ-52)

रामविलास जी प्रखर मार्क्सवादी चिन्तक के रूप में मान्य हुए। जिनकी आलोचना का विस्तााार वाल्मीकि, भवभूति, कालिदास से होते हुए नागार्जुन और मुक्तिबोध तक जाता है। कालिदास पर लिखते हुए रामविलास जी ने लिखा है कि 'वे भारतीय-साहित्य में सबसे स्थायी कवि हैं। उनके स्थायित्व का स्रोत ऐसे शाश्वत सौंदर्य की व्यंजना है जो देशकाल की सीमाओं से परे है। कालिदास के साहित्य में प्राचीन समाज-व्यवस्था का प्रतिबिंबन है, तो निर्जीव रूढ़ियों का अतिक्रमण भी है। सूक्ष्म सौंदर्यबोध, जीवमात्र से सहानुभूति और नारी के प्रति सम्मान भावना, इस देश की प्रकृति से गहरा प्रेम और भाषा पर असाधारण अधिकार ये स्थायी महत्व के बिन्दु हैं।

'तुलसी साहित्य के सामंत-विरोधी मूल्य' नामक अपने निबन्ध में रामविलास जी ने हिंदी आलोचना के अझेल हमलों के बीच झूलते तुलसीदास को लाकर साहित्य की वास्तविक ज़मीन पर खड़ा कर दिया है। वे लिखते हैं 'तुलसी को निकालकर हिंदी साहित्य की परंपरा से संबंध जोड़ना असंभव है। इस परंपरा में जो कुछ मूल्यवान है, जो कुछ महत्वपूर्ण है, जो कुछ सदा के लिए संग्रह करने योग्य है वह तुलसी में सुरक्षित है... "तुलसी हमारे जातीय जनजागरण के कवि हैं। उनकी कविता भक्त समाज के लिए अफ़ीम नहीं है। तुलसी की ऐतिहासिक सीमाओं की बात करके माफी मांगने की जरूरत नहीं है, जरूरत है तुलसी पर गर्व करने की।'

'भारतेन्दु' रामविलास जी ने नवजागरण से जोड़ा है और उनका बेहतरीन मूल्यांकन किया। वे भारतेन्दु के बारे में लिखते हैं- "वे समाज सुधारक थे, विधवा विवाह के समर्थक थे, स्त्री शिक्षा के प्रबल पक्षपाती थे, भारतेंदु ने भाषा और साहित्य में जिस आन्दोलन का सूत्रपात किया था, वह राष्ट्रीय और जनतांत्रिक था।" (पृष्ठ-153) जैसा कि यह तथ्य है कि कवियों में निराला, उपन्यासकारों में प्रेमचन्द और आलोचकों में रामचन्द्र शुक्ल उन्हें सबसे प्रिय थे। रामविलास जी ने हिंदी आलोचना में उसी समय कदम रखा जब इनके इन तीन प्रिय रचनाकारों पर हमले हो रहे थे। उन्होंने लिखा है कि 'मैं आलोचना के क्षेत्र में न आया होता, अगर मेरे प्रिय कवि (निराला) पर इतने हमले न हुए होते। 'शायद यही कारण भी है कि उन्होंने अपना पहला लेख 'निराला जी की कविता' नाम से 1934 में लिखा जो उसी वर्ष अक्टूबर के 'चाँद' में छपा जिसमें उन्होंने आरोपों और आलोचनाओं में घिरे हुए निराला की कविता की नवीनता और उनकी सृजनात्मक ऊर्जा के अनेक बिन्दुओं को उद्घाटित किया। उन्होंने लिखा है कि "निराला जी की कविता समझने के लिए किसी रहस्यवाद, छायावाद और फिलॉसफी में पारंगत होने की आवश्यकता नहीं है। कविता हृदय की भाषा है... निराला जी की कविता नए युग की आँखों से यौवन को देखती है..... अंग्रेजी कवि डॉन और ब्राउनिंग ने अपनी कविता को अधिकांश में जिस तरह दुरूह बना दिया है, वैसा निराला जी ने नहीं किया है। यदि हम उनके भावों को नहीं समझते तो इसलिए नहीं कि कवि ऊटपँटाग बोलता है, वरन् इसलिए कि वह हमसे अधिक ऊँचाई पर है। इसके लिए कवि उतर कर नीचे नहीं आयेगा हमें ऊपर चढ़ना होगा।"

हिंदी आलोचना ने प्रसाद और महादेवी की रूढ़ छवि निर्मित करते हुए यदि प्रसाद को अतीत-प्रेमी तथा प्रेम और सौंदर्य तक सीमित कर पलायनवादी घोषित कर दिया तो महादेवी वेदना और रहस्यवाद के अतिरिक्त कुछ नहीं देख पाई। रामविलास जी ने से इस रूढ़ दृष्टि को विखण्डित करते हुए लिखा कि 'प्रसाद के लिए कला सोद्देश्य है। उसमें लोक मंगल की भावना है। प्रसाद ने दुखवाद और भोगवाद से साहित्य को मुक्त करने का प्रयास किया। प्रसाद का साहित्य चिन्तन भारतीय संस्कृति की विरासत है। महादेवी के संदर्भ में लिखते हुए वे भारतीय समाज की पितृसत्तात्मक संरचना के बीच महादेवी के पूरे साहित्य का अवलोकन करते हैं। "आज के भारतीय समाज में नारी परतंत्र है। उसकी परतंत्रता का कारण सामंती संबंधों के अवशेष और समाज संचालकों के सामंती संस्कार हैं। नारी की पराधीनता को यदि पीड़ावाद का रूप दे दिया जाय तो इससे सामंती संस्कारों की रक्षा होती है। महादेवी जी के व्यक्तित्व में नारी हठ के साथ कहीं पत्थर जैसी दृढ़ता भी छिपी है- उनके अन्दर यह क्षमता है कि वह पीड़ा और आँसुओं के व्यापार को ही समाप्त कर दें।" (पृष्ठ-203)

प्रेमचंद, रामविलास जी के प्रिय उपन्यासकार रहे हैं वे लिखते हैं कि "प्रेमचंद के युग को देखते हुए हम कह सकते हैं कि क्या राजनीति में, क्या साहित्य में, उस समय उन्हीं का व्यक्तित्व सबसे अधिक क्रांतिकारी था।" (पृष्ठ-145) प्रेमचंद की विशेषता तत्कालीन भारतीय समाज में चल रहे बहुस्तरीय संघर्षों की पहचान और उनके रचनात्मक रूपान्तरण में है। हालांकि 'प्रेमचंद के विचार बहुत स्पष्ट नहीं थे परंतु उनके कलाकार की सच्चाई में कमी न थी....आज के साहित्यिक विचार बहुत कुछ स्पष्ट हो गए हैं, परन्तु उसके पास प्रेमचंद का अनुभव नहीं है, उनकी सी सच्चाई भी कम है। प्रेमचंद की कृतियों का हमारे लिए यह संदेश है कि हम जनता में जाकर रहें और काम करें। अपनी रचनाओं में जनता-जनता कम चिल्लाएं।" (पृष्ठ-154)

प्रगतिशील समीक्षा के मंच पर आरंभ में एक जिहादी जोश के साथ रामविलास जी उस समय आते हैं, जब उनके प्रिय रचनाकार विध्वंसवादी आलोचकों के शिकार हो रहे थे। उन्होंने विध्वंसकों को उचित जवाब दिया और इन रचनाकारों को स्थापित किया। पर सवाल यह उठता है कि विध्वंस के खिलाफ आलोचना में मोर्चा संभालने वाले रामविलास जी नयी कविता तथा प्रगतिशील कवियों के लिए ध्वंसात्मक आलोचना का झंडावरदार क्यों बन जाते हैं? क्यों पूरी की पूरी नयी कविता को अस्तित्ववाद के खाके में

डालकर खारिज़ कर देते हैं। कविता और कवि के मूल्यांकन के लिए जो प्रतिमान कालिदास, तुलसीदास, निराला के लिए हैं, वे नयी कविता और उनके कवियों के लिए क्यों अप्रासंगिक हो गए हैं? रीतिकालीन कविता में भी उसके सकारात्मक पक्षों को देख लेने वाली उनकी आलोचकीय दृष्टि अपनी समकालीन रचनाशीलता में केवल विकृति और पतन का दिगंत व्यापी अंधकार ही देख पाती है। क्या यही नयी कविता है? जिसका मूल्यांकन करते हुए रामविलास जी अपने लेख 'अस्तित्ववाद और नयी कविता' में 'सात्र' के उपन्यास 'उबकाई' के केंद्रीय चरित्र रोकांत्र के चरित्र "रोकांत्र अर्द्ध विक्षिप्तय है, न्यूपरॉटिक..... रोकांत्र निश्चय नहीं कर पाता कि वह कुछ समय के लिए पागल हुआ था या नहीं...... रोकांत्र अघोरी है... वह खुद भीतर से सड़ रहा है, इसलिए हर चीज़ सड़ी हुई मालूम होती है।" को नयी कविता पर लागू करते हुए लिखते हैं कि "हिंदी के अधिकांश नयी कविता लिखने वालों का यही हाल है।" नयी कविता में विक्षिप्त ता, विकृति, आत्महत्या, सड़ांध, अजनबीपन, वमन और दुरूस्वप्न जैसी प्रवृत्तियों को प्रमाणित करने के लिए रामविलास जी ने उद्धरणों की झड़ी लगा दी है। वे यह भूल जाते हैं कि इस नई कविता में प्रगतिशील कवियों की भी एक धारा थी। पर क्या रामविलास जी प्रगतिशील कवियों का सही मूल्यांकन कर पाये? मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है कि वे "उस समय नयी कविता में केवल विकृति और विद्रूपता देखते थे। और सम्पूर्ण नई कविता को कुंठा, घुटन, निराशा, अनास्था और यथार्थ की कविता कहते थे। 1977 में आकर, नई कविता के लगभग सत्रह वर्ष बाद और मुक्तिबोध की मौत के दस वर्ष बाद, डॉ. शर्मा ने यह स्वीकार किया कि नई कविता में अनेक काव्य प्रवृत्तियाँ थी, उसमें अस्तित्ववाद की टक्क्र मार्क्सवाद से थी। और नयी कविता के कवि शमशेर और मुक्तिबोध मार्क्सवाद से प्रभावित थे।" (शब्द और कर्म पृष्ठ-256)

प्रगतिशील आलोचना के इसी रवैये के कारण मुक्तिबोध ने 'समीक्षा की समस्याएं' नामक अपने लेख में लिखा कि 'प्रगतिशील आलोचकों की उस समय की आलोचना की प्रवृत्ति ध्वंसात्मक थी, दृष्टि संकीर्णतावादी और तरीका स्थूल। फलतः रचनाकार आलोचकों से दूर होने लगे। ऐसी स्थिति में नई कविता के कलावादी व्यक्तिवादियों द्वारा प्रगतिशील रचनाशीलता पर आक्रमण हुए।' रामविलास जी का नई कविता के मूल्यांकन का यह दृष्टिकोण उनकी उस आलोचकीय दृष्टि के सीमा का भी निर्धारण कर देता, जो कलावादी आलोचकों को प्रगतिशील रचनाशीलता पर हमला बोलने का स्पेस मुहैया कराती है।

रामविलास जी ने काव्यपंक्तियों और वक्तव्यों को अपने निर्धारित निष्कर्षों में ढ़ाल लेने की चमत्कारी क्षमता का सबसे ज्यादा दुरूपयोग मुक्तिबोध के मूल्यांकन में किया है। 'मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष और उनकी कविता' नामक अपने लेख में उन्होंने मुक्तिबोध को रहस्यवादी, आत्मग्रस्त और मनोरोगी कवि तक सिद्ध कर दिया। हद तो तब हो जाती है जब आलोचना के सारे नैतिक प्रतिमानों को ताक पर रख कर रामविलास जी लिखते हैं कि "कामायनी के मनु को मुक्तिबोध की निगाह से देखें, तो वह स्वयं मुक्तिबोध से काफी मिलते-जुलते दिखायी देते हैं।" (पृष्ठ-1001) आइए देखते हैं कामायनी के मनु मुक्तिबोध की निगाह में कैसे हैं- "मनु एक टाइप हैं, उस वर्ग का टाइप, जिसकी शासन सत्ता तथा ऐश्वर्य छिन गया हो। उस वर्ग की समस्त प्रवृत्तियाँ मनु में हैं। अहंकार, विलासिता, आत्ममोह, निर्बन्धन, उच्छृंखलता, व्यक्तिवादी साहस, निराशा, पाखण्ड और ऐसा आत्मग्रस्त, निविड आत्म विश्लेषण जो पराजय से प्रसूत होकर, पराजयों की ओर ले जाता है।" (मुक्तिबोध रचनावली- 4 पृष्ठ-207) क्या यह मनु का व्यक्तित्व मुक्तिबोध पर लागू हो सकता है?

जिसे 'मुझे पुकारती हुई पुकार' वाली कविता को रामविलास जी मुक्तिबोध के रहस्यवादी रूझान की कविता मानते हैं। उसके संदर्भ में मुक्तिबोध ने लिखा है "राजनैतिक-सामाजिक क्षेत्र के अधःपतन संबंधी कविता जो मैने बंगाल के अकाल पर लिखी..ऐसी ही भीषण मनःस्थिति में इलाहाबाद के प्रतीक में मेरी कविता प्रकाशित हुई जो मुझे अत्यन्त प्रिय है वह है मुझे पुकारती हुई पुकार खो गयी कही।" (रचनावली 5 पृष्ठ- 1269)

ऐसी ही न जाने कितनी ही कविताओं का मूल्यांकन अपने निष्कर्षों को सिद्ध करने के लिए रामविलास जी ने किया। इस संदर्भ में भी मुक्तिबोध ने लिखा था कि 'इतना कह दूँ कि मेरी इन कविताओं में से केवल नैराश्यमूलक कविताओं को लेकर ही मेरी कठोर आलोचना की गयी। यह गलत था। (रचनावली-5 पृष्ठ- 268) इस प्रकार रामविलास जी जिन मुक्तिबोध की कविता को तमाम आरोपों के घेरे में खड़ा करते हैं, वही मुक्तिबोध उनसे बेहतर सर्जनात्मक अर्थों वाले मार्क्सवादी रचनाकार सिद्ध होते हैं।

अज्ञेय पर लिखते हुए रामविलास जी उन्हें छायावादी भाववोध का कवि मानते हैं और एक जिद्दी प्रयास के तहत सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि रहस्वाद का बीज़ उनकी आरंभिक कविताओं में ही हैं जिनका उत्तरोतर विकास होता गया है। अज्ञेय को नव रहस्यवादी घोषित करने के पीछे उनकी पूरी मंशा यही रही है, कि अज्ञेय की कविताओं के बावजूद रामविलास जी अज्ञेय की कविताओं के कलात्मक महत्व को दिखाते हुए लिखते हैं। "चाहे प्रकृति प्रेम हो चाहे, नव रहस्यवाद, उसकी सीमित सार्थकता है, जड़ाऊ कविता के रूप में अज्ञेय परिश्रमी कवि कुशल शिल्पाकार हैं। अज्ञेय की कविता जड़ाऊ है, टिकाऊ भी।'

शमशेर पर लिखते हुए रामविलास जी लिखते हैं कि "शमशेर का आत्म संघर्ष उनके मार्क्सवादी विवेक और इस उत्तर छायावादी इलियट, एज़रा पाउंड वाले काव्याबोध का संघर्ष है।..... शमशेर पर उर्दू के रीतिकाव्य का गहरा प्रभाव है।... शमशेर के रहस्यवाद का लगाव यदि दादू, रज्जरब, कबीर से होता तो वे किसी दूसरी जगह पहुँचते। किन्तु इलियट, एज़रा पाउंड की सीढ़ियाँ उतरते हुए वे सीधे गिन्साबर्ग तक पहुँचते हैं।" और अन्त में लिखते हैं कि

घिर गया है समय का रथ कहीं।
लालिमा से मढ़ गया है राग।।

ऐसी पक्तियाँ कोई सिद्ध कवि ही लिख सकता है। इस प्रकार फैसले के साथ ही वे शमशेर को भी रहस्यवाद का रास्ता दिखा ही देते हैं।

मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है कि "परंपरा का विवेक पूर्ण मूल्यांकन, प्रगतिविरोधी रचना दृष्टियों से संघर्ष और प्रगतिशील रचनाशीलता के विकास का मार्गदर्शन। किसी भी काल की मार्क्सवादी आलोचना के ये महत्वपूर्ण प्रयोजन हैं।" (शब्द और कर्म पृष्ठ-251)

रामविलास जी ने परंपरा का विवेकपूर्ण मूल्यांकन तथा कुछ हद तक प्रगति विरोधी रचना दृष्टियों से संघर्ष तो किया। पर वे प्रगतिशील रचनाशीलता का ना तो सही मूल्यांकन कर पाये और ना ही उसके विकास में कोई महत्वपूर्ण योगदान ही दे सके। शायद इसका कारण यही था कि उनकी दृष्टि लक्ष्य भेदी थी। इसलिए वे विश्लेषण से किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते, बल्कि निष्कर्ष को केंद्र में रखकर विश्लेषण करते हैं। 'उनके विश्लेषणों में वैचारिक योद्धा की तैयारी और रणनीति दिखती है। अपनी रूचियों एवं पूर्वग्रहों को वस्तुनिष्ठता का आधार देने में उन्हें महारत हासिल है। उनके इस कौशल के शिकार बहुत सारे प्रगतिशील रचनाकार भी हुए। लेकिन अपनी जातीय विरासत की सारवान अंतर्वस्तु की पहचान और उसके महत्व के प्रतिपादन में रामविलास जी की दृष्टि का कोई जोड़ नहीं है। इसलिए प्रखर मार्क्सकवादी चिन्तक और आलोचक रामविलास जी शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना के केंद्रीय व्यक्तत्व रूप में मान्य हैं।

समीक्षा सरोकारों को सहेजती आलोचना

आलोचना

■ पल्लव

कहानी एक लोकप्रिय विधा है और आन्दोलनधर्मी भी, ऐसे में आलोचना के लिए कुछ मुश्किलें होती हैं कि किस तरह समूचे परिदृश्य को देखा जाए। इस चुनौती को स्वीकार करती हुई चंचल चौहान की नयी किताब 'हिन्दी कथा साहित्य विचार और विमर्श' में लगभग एक सदी की हिन्दी कहानी का सिंहावलोकन किया गया है। चौहान विचारधारा के अग्रणी लेखक-आलोचक हैं और अपने सरोकारों को वे किसी भी तरह नहीं छिपाते। आकस्मिक नहीं है कि तीन खण्डों में विभाजित इस किताब की शुरुआत जिस आलेख से हुई है उसका शीर्षक है- 'हिन्दी कहानी : यथार्थवाद के विविध आयाम'। जिसमें वे हिन्दी कहानी के प्रारम्भिक समय से समकालीन दौर की कहानियों और उनमें निरूपित यथार्थ का जायजा लेते हैं। इस प्रक्रिया में वे चर्चित और प्रशंसित कहानियों को भी परीक्षा से नहीं छोड़ते। यशपाल की प्रसिद्ध कहानी 'परदा' और भैरवप्रसाद गुप्त की 'मंगली की टिकुली' में गढ़े हुए यथार्थ की सीमा देखते हैं। उनका मत है-'देखना यह चाहिए कि कहानी यथार्थ को उसकी संश्लिष्टता में पेश कर रही है या उसे विकृत कर रही है। एकांगी यथार्थ किसी भी पद्धति से कहानी का आकार लेगा, तो वह यथार्थवाद के विकास में कोई योगदान नहीं करेगा, वह कचरा ही बन कर रह जाएगा।' चौहान का यह आग्रह कहानी के लिए उचित ही कहा जाएगा क्योंकि यथार्थवाद के नाम पर प्रकृतवादी अवमूल्यन देखा जा चुका है। किताब में आगे प्रगतिवाद, नयी कहानी, आठवें दशक, नवें दशक की कहानियों पर स्वतंत्र आलेखों के साथ जादुई यथार्थवाद और अतीतोन्मुखता जैसे दृष्टि बिन्दुओं पर भी विचार किया गया है। इस खंड में मोटे तौर पर कहानी की आलोचना और कहानी के विमर्श पर विचार है। यहाँ चौहान ने कहानी समीक्षा के विकास और प्रगतिशील कथा-साहित्य के मूल्यांकन पर भी अलग आलेख दिए हैं। देवीशंकर अवस्थी के समीक्षा कर्म के बहाने हिन्दी कथा समीक्षा पद्धति के विकास पर उन्होंने लिखा है - कथा समीक्षा में यथार्थवाद ही वस्तुपरक प्रतिमान की तरह इस्तेमाल हो सकता है। कथा समीक्षा का विकास यथार्थवाद के विकास से जुड़ा हुआ है। देवीशंकर अवस्थी की समीक्षा इसी दिशा में विकसित हो रही थी।' वहीं प्रगतिशील कथा साहित्य के मूल्यांकन पर विचार करते हुए वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह थोड़ा असामान्य है क्योंकि बहुधा माना जाता है कि इस तरह की बातें कम से कम विचारधारा के पक्षधर लेखकों-आलोचकों की तरफ से नहीं सुनाई पड़ती। चौहान कहते हैं कि मूल्यांकन में सबसे बड़ी विकृति यह है कि मूल्यांकन भी इसी पर्सपेक्टिव से किया जाने लगा जिसमें कहानी से ज्यादा जोर कहानीकार पर दिया जाने लगा। चौहान ने यहाँ आम तौर पर विवेचन और विश्लेषण में इसी तरह विचार किया है। वे बड़े नामों से आतंकित नहीं होते। (लेखक संगठन से जुड़े होने के बावजूद) लेखन और संगठनधर्मिता को एक ही तराजू में तौलने की जिद नहीं करते और विरोधी समझी जाने वाली स्थितियों-परिघटनाओं से भी अपने सहमत होने के तर्क खोजते हैं।

किताब के दूसरे खंड में कुछ कहानियों और कहानीकारों पर विचार किया गया है। यहाँ मन्नू भंडारी, मार्कंडेय, रघुवीर सहाय, इसराइल, असग़र वजाहत, पंकज बिष्ट, उदय प्रकाश, शिवमूर्ति, मीराकांत और अनुज की कहानियों पर छोटे बड़े आलेख मिलकर किताब में बन रहे कथा परिदृश्य को सम्पूर्ण बनाने की कोशिश करते हैं। इनमें से ज्यादातर आलेख सम्बंधित कहानीकारों की किताबों की चर्चा के प्रसंग में लिखे गए हैं तो निर्मल वर्मा की 'सूखा' और उदय प्रकाश की 'टेपचू' पर हुई बहस में लिखे गए आलेख भी यहाँ हैं। निर्मल वर्मा की कहानी 'सूखा' पर लिखा गया आलेख इस खंड की उपलब्धि है क्योंकि प्रगतिशील - जनवादी आलोचना के प्रचलित रुख से अलहदा चौहान यहाँ कहानी के साक्ष्य को सही मानते हुए अपनी व्याख्या रखते हैं। यह व्याख्या और प्रकारांतर से किया गया विश्लेषण कहानी समीक्षा की उलझन को स्पष्ट करता है, क्योंकि चौहान के लिए यहाँ प्राथमिक संकल्प कहानी है न कि कहानीकार और उसकी विचारधारा। यहाँ कुछ चर्चित-अचर्चित कहानी संग्रहों पर लिखी समीक्षाएं हैं, फिर भी लगता है कि यह खंड पहले खंड की तरह सघन और गहरा नहीं है। कथा आलोचना की कमी की शिकायत करने वाले यहाँ आठवें दशक के महत्त्वपूर्ण लेखकों और संग्रहों पर इस अध्ययन को उपयोगी ही पायेंगे।

किताब का तीसरा खंड उपन्यासों पर है और पूरी तरह असंगत है। अच्छा होता कि इसे रोक लिया जाता। दो उपन्यासों 'अपने-अपने राम' और 'पाहीघर' के साथ यहाँ बस एक लेख है जिसमें समकालीन हिन्दी उपन्यासों में अतीतमोह पर विचार किया गया है। संभव है लेखक को लगा हो कि इस कथा चर्चा में इन्हें भी शामिल कर लें अन्यथा ये रह ही जायेंगे।

यह किताब हिन्दी कहानी आलोचना की महान किताबों में भले शामिल न की जाए लेकिन बहस के तर्कों और स्तर की गंभीरता के लिए इसे पढ़ना निश्चय ही कथा आलोचना में रुचि रखने वाले पाठकों के लिए जरूरी होगा। आज़ादी के पचास साल पर हिन्दी कहानी की स्थिति पर लिखा गया आलेख हो या कुछ अन्य आलेख, इस किताब में अलग अलग समय पर अवसर विशेष पर लिखे गए आलेख भी ऐसी संगति में आ गए हैं कि खटकते नहीं। लम्बी अवधि में लिखे जाने पर भी ये आलेख एक साथ आने पर मुकम्मल किताब का स्वाद दे सके हैं तो इसका कारण सघन वैचारिक तैयारी और रचनाशीलता को पहचानने वाली संवेदना है। असल में इस पूरी किताब में यथार्थवाद का आग्रह दिखाई देता है और यह आग्रह रचनात्मकता की शर्त को सुरक्षित रखने के साथ आया है।

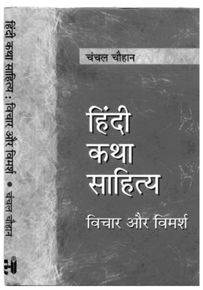

हिंदी कथा साहित्य
चंचल चौहान
साहित्य भण्डार
50, चाहचंद
इलाहाबाद
मूल्य : 275/-

चर्चित युवा आलोचक। दिल्ली में अध्यापन। 'बनास' पत्रिका का संपादन करते हैं।
संपर्क : 08130072004

■ पंकज पराशर

पुख्ता होती खतरनाक प्रवृत्ति

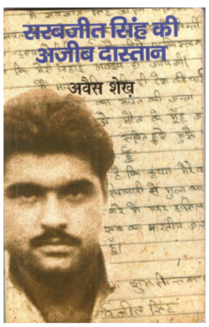

सरबजीत सिंह की अजीब दास्तान
अवैस शेख
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
मूल्य : 250/-

युवा आलोचना में गंभीर उपस्थिति। पिछले दिनों एक आलोचना पुस्तक प्रकाशित और चर्चित। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में व्याख्याता।
संपर्क : 09634282886

भारत और पाकिस्तान के एक राष्ट्र के रूप में जन्म के साथ ही दोनों देशों के बीच अविश्वास, कटुता और उग्र राष्ट्रवाद की नींव पड़ गई और तीन युद्ध होने के बावजूद दोनों देशों के बीच मौजूद किसी समस्या को युद्ध से जीत पाना संभव नहीं हो पाया। समस्याएं आज तक जस की तस हैं, लेकिन इस बीच उग्र राष्ट्रवादी, धार्मिक और उग्र विचारों से संचालित शक्तियों का विकास होता रहा। जिसका नतीजा दोनों देशों की मासूम जनता को भुगतना पड़ रहा है। सरहद पर मरता रहा गरीब का बेटा, लेकिन सुर्ख़रू रहनुमा होते रहे। दोनों देशों की राजनीति और नौकरशाही इस तथ्य को लगातार झुठलाने का प्रयास करती रही है कि दोनों मुल्क धार्मिक ही नहीं, सांस्कृतिक रूप से भी सर्वथा पृथक हैं। लेकिन धार्मिक रूप से एक होने के बावजूद पूर्वी पाकिस्तान के एक अलग राष्ट्र बांग्लादेश के रूप में उदय और पहचान ने यह साबित कर दिया कि राजनीति और नौकरशाही सांस्कृतिक एकता को झुठलाकर कृत्रिम दीवारें खड़ी करती है। कहना न होगा कि संस्कृति की जड़ें कहीं अधिक गहरी और पुख्ता होती हैं, इसलिए भारत और पाकिस्तान की आम जनता के बीच शायद वैसी कटुता और शत्रुता नहीं है, जैसी राजनीतिक और कूटनीतिक गलियारों में नजर आती है।

भारतीय पंजाब के सीमावर्ती जिले फिरोजपुर के गांव भिखीविंड निवासी सरबजीत सिंह को 30 अगस्त, 1990 को भारत के लिए जासूसी करने और फैसलाबाद एवं लाहौर में बम विस्फोट करने के आरोप में गिरफ्तार किया गया था। इस विस्फोट में चौदह लोग मारे गए थे। 03 अक्तूबर, 1991 को ट्रायल कोर्ट में चली सुनवाई के बाद सरबजीत को मौत की सजा सुनाई गई। जिसके खिलाफ की गई अपील को लाहौर हाई कोर्ट ने खारिज कर दिया और वहां की सुप्रीम कोर्ट ने सरबजीत की अपील निरस्त कर दी। बाद में तत्कालीन राष्ट्रपति परवेज मुशर्रफ के यहां भी दया याचिका खारिज हो गई और फांसी की तारीख तीस अप्रैल, 2008 तय हो गई, जो अलग-अलग कारणों से टलती रही। लेकिन पिछले दिनों दो स्थानीय कैदियों के आक्रमण से बुरी तरह घायल सरबजीत सिंह की मौत लाहौर के एक अस्पताल में हो गई। आम जन-मानस में सरबजीत सिंह की बस इतनी-सी कहानी सार्वजनिक है, लेकिन पाकिस्तानी वकील अवैस शेख ने 'समझौता एक्सप्रेस' और 'सरबजीत सिंह की अजीब दास्तान' पुस्तक लिखकर उन तथ्यों और सुबूतों को सार्वजनिक करने का प्रयत्न किया है, जिसके बारे में आम लोगों को कुछ खास मालूम नहीं है।

सरबजीत सिंह के वकील और मानवाविधकार कार्यकर्ता अवैस शेख कहते हैं, 'दरअसल, इस पूरे केस में ही कई खामियां थी। प्राथमिकी में सरबजीत का नाम कहीं नहीं है। लाहौर के कमिश्नर शाहिद रफी ने जब इस केस में ट्रायल चलाने का आदेश दिया, तब उसमें मंजीत सिंह, वल्द महंगा सिंह का नाम शामिल था।' असली मंजीत सिंह भूमिगत हो गया या कहें उसे अगवा दिया गया, जिसे बाद में भारत में गिरफ्तार कर लिया गया। लेकिन पाकिस्तान की अदालत निरंतर सरबजीत को ही मंजीत सिंह मानती रही। अवैस शेख दूसरी दलील यह देते हैं, 'सरबजीत की स्वीकारोक्ति वाले दस्तावेजों में भी सरबजीत का न तो दस्तखत है और न उसके अंगूठे का कहीं निशान है। सरबजीत सिंह के खिलाफ तीन केस दर्ज किए गए थे, लेकिन किसी भी मामले में कन्फेशन स्टेटमेंट दर्ज नहीं कराया गया था।' (पृ.47) यहां तक कि बकौल अवैस शेख, 'पिछले वकील ने अपने मुवक्किल के साथ न्याय नहीं किया और उसने बेवजह उन्नीस साल बर्बाद कर दिए। कोर्ट को आरोपी की सही पहचान के बारे में कभी भी सूचित नहीं किया गया। उसने कभी भी केस की सुनवाई में तब तक पहुंचने की जहमत नहीं उठाई, जब तक कि दया याचिका खारिज नहीं हो गई।' (पृ.52) यानी सरबजीत गलत पहचान का शिकार होने के साथ-साथ अपने वकीलों की दगाबाजी का शिकार भी लगातार होता रहा।

अवैस शेख एक और खतरनाक प्रवृत्ति की ओर इशारा कर रहे हैं, जिसकी भयावहता का अनुमान आम लोग नहीं लगा सकते। अवैस शेख ने जब सरबजीत का केस लड़ना स्वीकार किया तो पाकिस्तानी पत्रकारों ने पूरे आक्रामक तरीके से उन पर किस तरह के सवाल दागे, देखिए, 'तुम पाकिस्तानी हो या हिंदुस्तानी? सरबजीत ने कई लोगों की जान ली है और आप उसे फल एवं बादाम खिला रहे हैं! आप एक भारतीय आतंकवादी का केस लड़ रहे हैं। आप एक हिंदुस्तानी एजेंट हो।' (पृ.87) यहां तक कि अवैस शेख के दोस्तों ने उन्हें यह समझाने की कोशिश की कि तुम एक आंतकवादी के साथ हो, जिसने कई निर्दोष लोगों की जान ली है। सिक्के के दूसरे पहलू को देखें तो भारतीय मीडिया ने सरबजीत की मौत के बाद जिस तरह इस मामले का ट्रायल किया और उग्र राष्ट्रवाद को हवा देने की कोशिशें की, उसने शांति और सद्भाव के प्रयासों को कोसों पीछे धकेल दिया। ऐसा लगता है कि दोनों मुल्कों में मौजूद मीडिया महज खबरें ही नहीं देता, तथ्यों और मुद्दे की गहराई में गए बगैर फैसले भी देता है।

इस पुस्तक में लेखक और सरबजीत सिंह के वकील अवैस शेख ने इस पुस्तक में आम पाठकों की अदालत में भी सुबूतों और समय-समय पर लिखे सरबजीत के पत्रों को मूल चित्र के रूप में प्रस्तुत किया है। उन्हीं पत्रों में से एक पत्र में सरबजीत ने लिखा है, 'पाकिस्तान के जज सिर्फ ये देखते हैं कि इस इनसान पर पुलिस ने यह आरोप लगाया है तो यही मुजरिम है (अपराधी है) वो ना तो शहादतें देखती है और न ये देखती है कि पुलिस किसके साथ जुल्म कर रही है या नहीं। उन्होंने पुलिस की रिपोर्ट पर सजा सुना देनी होती है। उसकी वजह सबसे बड़ी एक तो ये है कि पाकिस्तानी जज सियासी दबाव बर्दाश्त नहीं कर पाते और अन्याय कर बैठते हैं। दूसरी वजह उनके अंदर का चोर होता है। वो पुलिस से डरते हैं क्योंकि उनको पता होता है कि कहीं न कहीं वो भी पुलिस के शिकंजे में आ सकते हैं।' (पृ.68) सरबजीत सिंह बहुत मामूली पढ़ा-लिखा व्यक्ति था, लेकिन हालात से उसे वक्त और सिस्टम को समझने की दृष्टि मिली थी। जासूसी के आरोप में पाकिस्तान की जेलों में वर्षों तक बंद रहे कैदियों यथा कश्मीर सिंह, सुरजीत सिंह आदि की रिहाई और भारत पहुंचकर खुद को भारतीय जासूस होने की स्वीकारोक्ति ने भी सरबजीत के मामले की पेचीदगियों को बढ़ाया और उग्र विचाराधारा वाली ताकतों को पाकिस्तान में आक्रामक होने का मौका दिया।

अवैस शेख की इस पुस्तक के कई पृष्ठों में न केवल कुछ पंक्तियों, बल्कि कई लंबे पैराग्राफों को भी कागज चिपका कर प्रकाशक की ओर से सेंसर करने की कोशिश की गई है। सेंसर किए गए उन हिस्सों में क्या छपा था, यह जानने के लिए अनावश्यक जिज्ञासा पैदा होती है, जिसका कोई जवाब इस पुस्तक में कहीं नहीं दिया गया है कि आखिर किन कारणों से ऐसा करने की नौबत आई? क्या अवैस शेख या सरबजीत की तरफ से प्रकाशक को बाद में ऐसा करने को कहा गया? या किसी तरह का कोई सरकारी दबाव था? या सरबजीत के परिवार की ओर से कोई इस तरह का अनुरोध था? अनेक तथ्यों को मूल रूप में प्रस्तुत करने वाली इस पुस्तक में इस तरह की सेंसरशिप न केवल थोड़ी हैरत पैदा करती है, बल्कि अब दिवंगत हो चुके सरबजीत के केस की असलियत को सामने लाने की कोशिश करने वाली यह पुस्तक खुद ही अनावश्यक रूप से एक प्रकार के रहस्य को पैदा करने की चेष्टा करती है।

समीक्षा

शायरी
■ ज्ञान प्रकाश विवेक

शहरयार का जिंदगीनामा, शायरी का सफरनामा

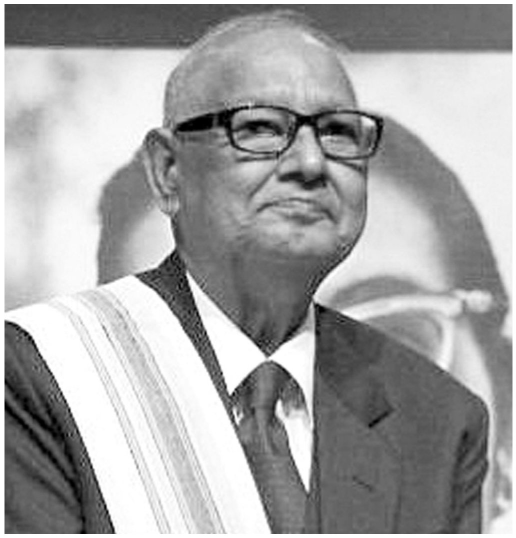

बातों मुलाकातों में शहरयार
प्रेम कुमार
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली
मूल्य : 395/-

शहरयार के शेर का एक मिसरा है- 'मैं देखता रहा दरिया तेरी रवानी को'। शहरयार ता-उम्र दरियाओं की रवानी को देखते रहे और अपने अंदर प्रबल भावनाओं की रवानी पैदा करते रहे। उनकी शायरी से गुजरें तो ऐसा गुमान होता है कि हम एक अशांत शायर की शान्त शायरी की सदाएं सुन रहे हैं। यह अशांत शायर ही तो है जो कहता है- इस शहर में हर शख्स परेशान-सा क्यूँ है? यह सवाल जितना सादा है, उतना ही मानीखेज। उतना ही सर्वकालिक।

शहरयार हमारे समय के ऐसे अजीम शायर थे जो उर्दू-हिंदी दोनों भाषाओं में अपना विशिष्ट मुकाम रखते थे। वो अपनी तरह के ऐसे मुख्तलिफ शायर थे जिन्होंने शायरी में आधुनिकता का बोध कराते हुए ऐसे शह्रयार की रचना की जिनमें अपने समय की गूँज थी और बदलते मूल्यों की आहटें भी जब महानगरीय तहजीब का केन्द्र (मूल्य) बदल रही थीं तो शहरयार कह रहे थे 'दिल है तो तड़पने का बहाना कोई ढूँढे'।

उन्होंने हिंदी या उर्दू के लिए नहीं, बल्कि अवाम के लिए शायरी की। अवाम ने शायरी के इस (नए) मुहावरे में अपनी भावनाओं को भी महसूस किया। और शहरयार की संजीदा (और सादगी से भरी) शायरी ने पाठकों श्रोताओं के साथ, अटूट रिश्ता पैदा किया। शह्रयार की शायरी के सिम्बल, तरवीहें, इमेजिस, नए-नकोर थे लेकिन दिल को छूते हुए। रूह तक पहुंचते हुए।

शहरयार की शायरी को अवाम ने जाना पहचाना और महसूस भी किया। लेकिन शहरयार के सरोकार, जाती जिंदगी के अज्ञात पहलू तथा समाज और समय तथा नई (जदीद) शायरी के विषय में विचार? शायरी और फिक्शन, को वो किस रूप में देखते हैं। ऐसे बहुत सारे सवाल प्रेम कुमार ने शहरयार से अपनी मुलाकातों के दौरान पूछे।

शहरयार ज्ञानपीठ सम्मान से नवाजे गए। और ऐसे शानदार मौके पर प्रेम कुमार ने इस किताब 'बातों-मुलाकातों में शहरयार' को तैयार करना बहुत जरूरी समझा।

प्रेम कुमार और शहरयार के संबंध बहुत आत्मीय, बहुत गाढ़े रहे हैं। करीब तीस साल पुराने और पुख्ता रिश्ते के दौरान, प्रेम कुमार ने नायाब काम यह किया कि शहरयार के साथ जो मुलाकातें हईं, उन्हें तरतीब देकर तहरीर किया और किताब की शक्ल दी।

किताब में दर्ज इंटरव्यू, महज इंटरव्यू नहीं। इंटरव्यू जैसी औपचारिकता, तनाव, दुराव-छिपाव कहीं नहीं। ये इन्टरव्यू एक नया मिजाज रचते हैं और अजीम शायर की कैफियत बयान करते हैं।

किताब से गुजरें तो ऐसा लगता है जैसे एक किस्सागो, छोटे-छोटे किस्से बयान कर रहा है। इन किस्सों में शहरयार की आपबीती है और शायरी भी। शहरयार जब बोलते हैं तो जमाने खुलते चले जाते हैं। ऐसा लगता है, शहरयार वर्तमान का तबसरा कर रहे हैं लेकिन माजी (अतीत) और मुस्तकबिल (भविष्य) की भी इनमें नाकूल जगह है। ये मुलाकातें न आजमूदा (प्रचलित) हैं न यहां कोई इंटरव्यू जैसी हदबंदी है। यहां तो शहरयार किसी किताब की तरह वरक-दर-वरक, खुद को खोलते ही नहीं, खुद को व्यक्त भी करते हैं।

प्रेम कुमार की खूबी यह है कि वो इंटरव्यू में भी माहौल की रचना करने का हुनर जानते हैं। यहां सवाल जवाब नहीं। यही विचार है बतकही है। बेतकल्लुफ तजुर्बों का बयान है। यहां अपने दोस्तों से बेपनाह मुहब्बत करनेवाले शहरयार का सफरनामा भी है और जिंदगीनामा भी।

कुंवर अख्लाक मुहम्मद खां के नाम से शायरी की इब्तिदा करने वाले कवि के तवील सफर है जो शहरयार तक पहुंचता है।

शहरयार के विचार न सिर्फ बेबाक हैं बल्कि बड़े मानीखेज भी हैं। वो कहते हैं- इस बात का अफसोस होना चाहिए कि यह अदब का दौर नहीं है। यह गढ़ का मुकाम है कि लोग सीरियस लिटरेचर न पढ़ें।..........शायरी,

गज़ल और कहानिया लिखने के साथ-साथ आलोचना में भी सार्थक दख़ल।
संपर्क : 09813491654

पैटिंग्स, म्यूजिक, सब इमोशन की पैदावार हैं। सोसाइटी में इनका न होना खतरनाक है। (पृष्ठ 21)

फिक्शन और पोएट्री पर उनके विचार दो-टूक हैं, फिक्शन हमेशा टाइम और स्पेस में रहेगा। उसमें इनर लॉजिक हमेशा पाई जाएगी। लेकिन शायरी को लॉजिकल तरीके से एक्सप्लेन करना दुश्वार काम है। (पृष्ठ 45)

अपनी शायरी के विषय में भी वो बड़े साफ़-गो लहजे में कहते हैं- मेरी इमेजरी, मेरे सिम्बल और डिक्शन की जो वैरायटी है- वो मेरी नज्मों में ज्यादा देखी जा सकती है। वो मुशायरों और कवि सम्मेलनों को कविता के लिए व्यर्थ का मंच मानते हैं, यह भी कि शायरी में इनका कोई योगदान नहीं रहा। यही बात वो कवि सम्मेलनों के बारे में भी कहते हैं।

वे यह भी कहते है कि जो फीलिंग या इमोशन मैं लेता हूँ - उस पर कुछ कहता हूँ तो लगता है कि अनोखी बात कह रहा हूँ। (पृष्ठ-63)

वो बिना छुपाए इस बात को जाहिर करते हुए जरा भी नहीं हिचकते-सेक्स हमेशा मेरे लिए सबसे बड़ा अट्रैक्शन रहा है। (पृष्ठ-57) लेकिन दूसरे किसी वक्त पर उनके अंदर का फकीराना ठाठ बोल पड़ता है- मैं बहुत अच्छी चीजों के चक्कर में कम अच्छी चीजों को नजरअंदाज नहीं करता। चीजें होती रहें- इससे जिंदगी के मीनिंगफुल होने का अहसास होता है।

शहरयार इन मुलाकातों में बहुत सारे शायरों पर भी तबसरा करते हैं। फैज की शायरी में इस्तेमाल किए गए शब्दों की एहमियत पर वो कहते हैं- 'फैज उन शायरों में हैं जो अपने इस्तेमाल किए गए लफ्जों पर ऐसी मुहर लगाते हैं कि वो लफ्ज महसूस हो जाते हैं। (पृष्ठ 81) वो खलीलुर्रहमान आजमी को भी बहुत याद करते हैं जो उनके दोस्त थे और उस्ताद भी।

इस किताब में शहरयार के जीवन के 'अज्ञात' पर भी बड़ी संजीदा बातें हैं। उनकी भरी हुई मेज के सिलसिले में प्रेमकुमार बताते हैं कि आधी मेज पर खाने पीने का सामान। बाकी आधी पर पानी की बोतलें, दवाइयों की शीशियां वगैरह। ज्ञानपीठ पुरस्कार के बाद वो निरंतर बीमारी की गिरफ्त में रहे-उसकी उदास तहरीरें भी इस किताब में हैं। आखिरी बार व्हील चेयर पर मुशायरा पढ़ने के लिए आना सोगवार मंजर पैदा करता है।

किताब के दूसरे खण्ड में शहरयार की चुनी हुई रचनाएं हैं, जिनमें भावनाओं की प्रबल अभिव्यक्ति है।

शहरयार जब कहते हैं-'कि खेल खत्म हुआ कश्तियां डुबोने का'- तो वो खेल खत्म नहीं करते, खेल का आगाज करते हैं। शायरी में यही खेल, अनुभवों की ऐसी अभिव्यक्ति का खेल होता है जिसमें जीवन संगीत सुनाई देता है। कश्ती डूबे और उस डूबने में भी जीवन संगीत हो-शायरी में ये खेल संभव है। क्योंकि शायरी में इमेजिनेशन को आरगनाइज करने का शऊर शहरयार के पास मौजूद है। तभी तो वो कहते भी हैं-

हवा का जोर ही काफी बहाना होता है
अगर चराग किसी को जलाना होता है

उच्च कोटि की शायरी में प्रतिवाद के स्वर भी फलसफे के रूप में व्यक्त होते हैं।

शहरयार यहीं तक महदूद नहीं रहते। वे पलकों से टूटी नींद की किरचें समेटते हैं और अपनी शायरी की किताब का नाम रखते हैं-'ख्वाब का दर बंद है'। दरहकीकत, उनकी शायरी में ख्वाब, नींद की बस्तियों से होकर नहीं आते। वो जिंदगी की पलकों से उतरते हैं।

शहरयार की शायरी 'तहजीब' की शायरी है। इसमें दुख को भी किसी 'आंच' की तरह महसूस किया जा सकता है। महसूस करना और कराना-शहरयार की शायरी का अनिवार्य तत्व है। वो एक जगह कहते भी हैं- 'महसूस कराने का माद्दा खत्म नहीं होना चाहिए।' और ये शायरी अहसास की ऐसी गूँज पैदा करती है जिसे महसूस करते हुए भावनाओं की बस्तियां आबाद होती हैं। यथा-

कभी तुम अपने जिस्म से
अलग मुझे मिलो कहीं
कि मैं तो अपने जिस्म से
जुदा कभी हुआ नहीं

यहां महसूस करना देह के अतिरिक्त, रूह का महसूस करना है। शहरयार हर शेर में एक ऐसा वातावरण रचते हैं जहां अनुभूतियों के स्पर्श को हम देर तक महसूस करते हैं-

सियाह रात नहीं लेती नाम ढलने का
यही तो वक्त है सूरज तेरे निकलने का
कहीं न सबको समंदर बहा के ले जाए
ये खेल खत्म करो कश्तियां बदलने का

कश्तियां सिम्बल की तरह हैं जो शहरयार की शायरी में तेरह बार नए अर्थ के साथ उपस्थित होती हैं। कश्तियों के जरिये, वो आर-पार में, जिंदगी से खेल खेलते हैं। इस खेल में होने और न होने (वेदना) का खेल तिलिस्म की अनोखी पाठशाला को निर्मित करता है।

पूरी शायरी में सम्मोहन तत्व का होना है। वो नज्मों में है और गजलों (यहाँ तक मिसरों) में भी है।

उनकी शायरी के प्रतीक, अर्थ की 'लौ' बनकर नया मिजाज पैदा करते हैं। अकेलेपन पर बहुत सारी शायरी हो चुकी है। लेकिन शहरयार कहते हैं-

सन्नाटे की भरी बोतलें बेचनेवाले
मेरी खिड़की के नीचे फिर खड़े हुए हैं

शहरयार की शायरी के कुछ सिम्बल अनुभवों के ताप, जिंदगी की कशमकश, आधुनिकता बोध की अजनबीयत से छनकर आए हैं-शब की सारी सुराहियां खाली-कहनेवाला शायर बड़े ठाठ से कहता है- 'आओ हवा के हाथ की तलवार चूम लें' तथा यह भी मैं- से बाज न आऊंगा यारो। बिल्कुल यहीं, शहरयार, मृत्यु के बरक्स अपना प्रतिसंसार रचते हैं।

शह्रयार की शायरी पढ़ते चलें जाएं तो एक बात निरंतर महसूस होती है कि वो खामोशी में अल्फाज़ पैदा करने की कूवत रखते हैं। और यह भी कि उनके शब्दों की विनम्रता-खामोशी के घराने से चहलकदमी करके आई हो। उनके इशआर में आवाजों की अपनी जगह है तो उस गूँज की भी अपनी जगह है जो दो मिसरों में गूँजती है-

कभी ख्याल ये आता है खेल खत्म हुआ
कभी गुमान गुजरता है ये भी वक्फा है।

शहरयार मृत्यु को केन्द्र में रखकर शेर नहीं कहते। वो सारी बात संकेतों में व्यक्त करते हैं। मौत यानी खेल खत्म। लेकिन शहरयार इसे एक 'वक्फा' भी मानते हैं।

शह्रयार की शायरी में अपने समय की दस्तकें हैं तो गुजिश्ता वक्त भी गूंजता हुआ महसूस होता है। स्मृतियाँ जब भी शायरी में आती हैं, वो अक्सर उदास लहजे में आती हैं। लेकिन शहरयार, स्मृतियों के उदास वातावरण में भी तवक्कों को व्यर्थ नहीं जाने देते- 'अगला सफर जब भी तुम करना, देखो तन्हा मत करना।'

इस किताब का महत्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि यहां शहरयार के दो रूप प्रस्तुत हैं। संवेदन लय से गूंजती शायरी है तो शह्रयार के अपनी शायरी (तथा समाज के रवैये) पर विचार भी प्रस्तुत हैं।

अपु के बहाने सिनेमा समझने की कोशिश

सिनेमा

■ विनोद अनुपम

A TEXTUAL STUDY OF THE APU TRILOGY

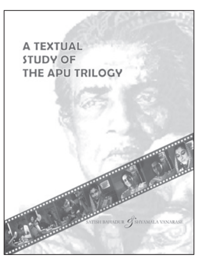

ए टेक्सचुअल स्टडी आफ अपु ट्रायलाजी
सतीश बहादुर और श्यामला वनारसे
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली
मूल्य : 695 /-

बिहार में रहते हुए हिंदी सिनेमा पर गंभीर आलोचनात्मक कार्य। फिल्म समीक्षा के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित।
संपर्क : 09472477941

यदि सिनेमा का मतलब सितारे, बॉक्स ऑफिस और व्यवसाय है तो सतीश बहादुर सिनेमा को नहीं जानते थे। लेकिन सिनेमा का मतलब यदि सभी कलाओं और सभी विज्ञान का संतुलित समन्वय है, तो सतीश बहादुर भारत में उसके प्रथम अध्येता थे। सतीश बहादुर के लिए सिनेमा समझने की चीज थी, विमर्श का विषय था, कला की पराकाष्ठा थी। मनोरंजन के बजाय सिनेमा उनके लिए आत्मिक संतुष्टि की वस्तु थी। आश्चर्य नहीं कि फिल्मकार अदूर गोपालकृष्णन ऋत्विक घटक के साथ अपने सिनेमा के जिस एकमात्र शिक्षक को याद करते हैं, वह सतीश बहादुर होते हैं।

सतीश बहादुर भारतीय फिल्म एवं टेलीविजन संस्थान, पुणे के आरंभिक अध्यापकों में थे। ऋत्विक घटक के समकालीन सतीश बहादुर ने 1963 से 1986 तक फिल्म संस्थान में अध्यापन का कार्य किया और इस अवधि में भारत में सिनेमा शिक्षण को एक अभिनव दिशा दी। उल्लेखनीय है कि फिल्म संस्थान में 'फिल्म एप्रिशियेशन' के जिस विभाग के लिए उनकी नियुक्ति हुई, वहाँ कोर्स का मूल स्वरूप तैयार करने की जवाबदेही भी उन्हें ही सौंपी गई थी और उसकी शिक्षण पद्धति भी उन्हें ही तय करनी थी। सतीश बहादुर ने सिनेमा को समझने की तकनीक विकसित की, और फिल्म एप्रिशियेशन का हिन्दी में नाम दिया, फिल्म रसास्वादन। उन्होंने फिल्म शिक्षण को लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से भारतीय फिल्म एवं टेलीविजन संस्थान, पुणे और राष्ट्रीय फिल्म अभिलेखागार के साथ मिलकर फिल्म ऐप्रिशियेशन की एक महीने के संक्षिप्त कोर्स की भी शुरुआत की। इस पूरे कोर्स का डिजाइन तैयार करने का श्रेय सतीश बहादुर को जाता है। 'टेक्सचुअल स्टडी आफ अपु ट्रायलॉजी' इसी कोर्स का हिस्सा रही है।

सतीश बहादुर और उनके सहयोगी श्यामला वनारसे ने इस पुस्तक में सत्यजीत रे की तीन आरंभिक फिल्मों पाथेर पांचाली, अपराजितो और अपुर संसार को दृश्य दर दृश्य व्याख्यायित करने की अभिनव कोशिश की है, अभिनव इस अर्थ में कि इसके पूर्व भारत में किसी भी फिल्म के तकनीकी अध्ययन की कोशिश नहीं की गई थी। फिल्मों की पटकथाएं प्रकाशित होती रही, 'आवारा' और 'मदर इंडिया' जैसी फिल्मों पर स्वतंत्र पुस्तकें भी आती रही हैं, हाल के दिनों में 'मेकिंग ऑफ लगान' की तरह भी कई पुस्तकें आयी। लेकिन ये पुस्तकें फिल्म का सिर्फ एक पहलू प्रदर्शित करती हैं। जबकि प्रस्तुत पुस्तक सत्यजीत रे की मनःस्थिति तक पाठकों को ले जाती है, और पूरी फिल्म की निर्माण प्रक्रिया को स्पष्ट करने में सहायक होती है।

विभूति भूषण वंद्योपाध्याय के उपन्यास पर आधारित 'पाथेर पांचाली' या हिन्दी में 'पथ का संगीत' में संगीत को रेखांकित करते हुए सतीश बहादुर बताते हैं, फिल्म का संगीत पात्रों की उपस्थिति और उनके मनोभावों के साथ जुडा है। यह पात्रों से जुड़ने और उन्हें स्वीकार करने की स्थिति बनाता है। इसका उदाहरण देते हुए बहादुर बताते हैं फिल्म में प्रयुक्त ड्रम की आवाज आने वाले संकट के लिए दर्शकों को तैयार करती है, जबकि रागदेश पर आधारित धुन का उपयोग वे बारिश में बच्चों के भींगने के उत्साह को प्रदर्शित करने के लिए करते हैं। वाकई यह जानना किसी भी सिनेमा के छात्र को सुकून दे सकता है कि पाथेर

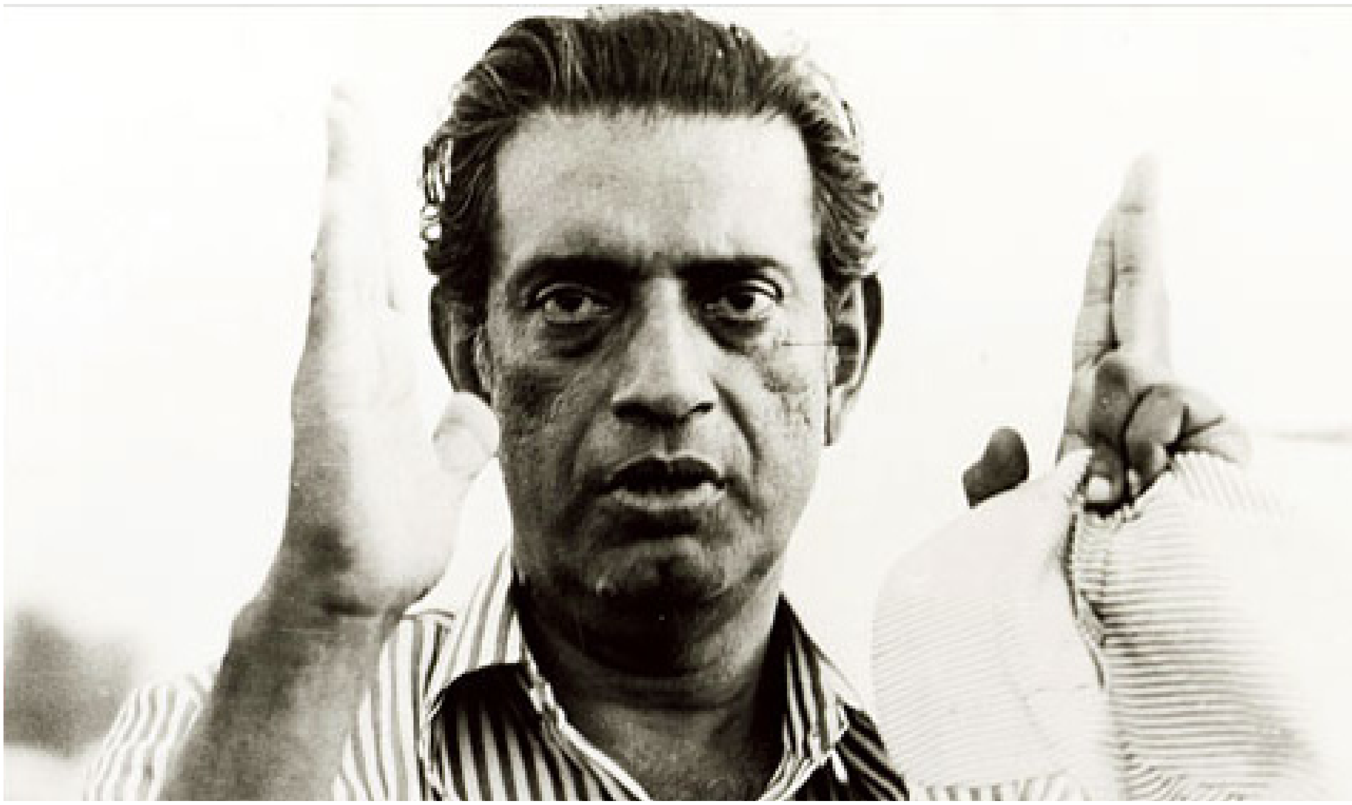

पांचाली के लिए संगीतकार रविशंकर ने एक ही टायटिल ट्रैक की चार धुनें बनवायीं थी। फिल्म की शुरुआत में यह धुन पखावज के साथ आती है, जबकि आगे सितार और बांसुरी के साथ। दृश्य के वातावरण को संगीत कितना सशक्त बना देता है फिल्म देखते हुए हम शायद ही गौर कर पाते हैं। पुस्तक स्पष्ट करती है कि यही बारीकियां हैं जो सत्यजीत रे को दुनिया के तमाम शीर्ष फिल्मकारों के साथ खड़ा करती हैं।

कहते हैं महाकवि निराला, निराला नहीं होते यदि डॉ. राम विलास शर्मा ने उनकी कृतियों को विश्लेषित कर पाठकों के सामने नहीं लाया होता। कमोबेश यही बात सत्यजीत रे और सतीश बहादुर के संदर्भ में कही जा सकती है। पथेर पंचाली के दृश्यों में दूर कास के जंगल के बीच से रेल का गुजरना और उसे देखने के लिए दुर्गा और अपु का दौडते हुए जाना एक सामान्य-सी घटना लगती है, लेकिन उस छोटे से दृश्य को जब सतीश बहादुर ग्रामीणों के शहर पलायन, अंग्रेजी राज के बढते प्रभाव और सात वर्षीय अपु के भविष्य की पूर्व पीठिका में देखते हैं तो अपने मोटिफ के प्रति सत्यजीत रे की गंभीरता और भी स्पष्ट हो जाती है। परदे पर सामान्य से दिखते दृश्यों की परिकल्पना के पीछे फिल्मकार किन-किन वैचारिक द्वन्द्वों और कलात्मक अभ्यास से गुजरता होगा, इस पुस्तक को पढते हुए सहज ही इसका अहसास किया जा सकता है। वास्तव में यह पुस्तक हमें सिर्फ दर्शक नहीं रहने देती, फिल्म का हिस्सा बना देती है। 'पाथेर पांचाली' की मुख्य महिला पात्र सर्वोज्या गरीबी से लाचार बचे खुचे बरतन बेचने घर से निकलती है, कैमरा सूने घर में खुले दरवाजे पर टिका रह जाता है। सतीश बहादुर इस खुले दरवाजे का मोटिव स्पष्ट करते हैं कि सर्वोज्या के घर में अब कुछ भी नहीं बचा जिसकी सुरक्षा के लिए दरवाजे बंद किए जाएं। गलत नहीं कहा गया है कि सिनेमा को शब्दों की जरूरत नहीं होती, इसकी असली भाषा दृश्यों की ही है।

सतीश बहादुर अर्थशास्त्र के प्रोफेसर रहे हैं। शायद इसीलिए सत्यजीत रे की कृतियों के राजनीतिक-आर्थिक पक्ष को वे खासतौर से रेखांकित करते हैं। रे अपनी फिल्मों में कालखंड शब्दों से स्पष्ट नहीं करते, बहादुर उसे दृश्यों के सहारे स्थापित करने की कोशिश करते हैं। इस पुस्तक को पढ़ हम फिल्म बनाना भले ही नहीं सीख पाएं, पटकथा की बारीकियां तो अवश्य सीख सकते हैं।

वास्तव में यह पुस्तक सत्यजीत रे की अपु ट्रायोलाजी समझने में जितनी सहायक हो सकती है, उतनी ही किसी भी फिल्म को समझने में हो सकती है। जिस तरह फ्रेम दर फ्रेम सतीश बहादुर पाथेर पंचाली की परतें खोलते हैं, उसी आधार पर 'रांझणा' या कहें तो 'लुटेरा' तक को समझने की कोशिश की जा सकती है। इस पुस्तक की सार्थकता यही है। यह सिनेमा देखने की एक नई दृष्टि देती है।

यह सही है सिनेमा मनोरंजन का साधन है, लेकिन यह भी सच है कि यह मनोरंजन समय समाज से निरपेक्ष नहीं होता। इसकी अपनी राजनीति होती है। चाहे वह 'राउडी राठौड' ही क्यों न हो, हरेक फिल्म में कहीं न कहीं कुछ होता है जो हमारे जेहन मे चस्पा रह जाता है। यह हमें धीरे-धीरे अनुकूलित कर लेता है। यह पुस्तक हमें उससे मुकाबले के लिए तैयार करती है। सत्यजीत रे की फिल्मों के बहाने सतीश बहादुर और श्यामला वनारसे की यह पुस्तक पाठकों को सिनेमा के प्रति एक सचेत दृष्टि दे सकती है।

वास्तव में सतीश बहादुर जैसे व्यक्ति की आजीवन कोशिश सिनेमा को मात्र मनोरंजन के संजाल से मुक्त करने की रही। लेकिन सिनेमा के प्रति हम कितने गंभीर हैं यह इसी से समझा जा सकता है कि उनके लिखे हजारों पृष्ठों में से यह पहली पुस्तक सामने आ सकी। निश्चित रूप से इस पहल के लिए वाणी प्रकाशन बधाई का पात्र है। पुस्तक अंग्रेजी में है, हालांकि यह पाठ फिल्म एप्रिशिएशन के छात्रों के लिए तैयार किया गया था, इसीलिए अंग्रेजी काफी सहज है जो सामान्य पाठकों के लिए भी कठिन नहीं होगी। हालांकि हिन्दी पाठकों के लिए अपू त्रयी का दृश्यपाठ के रूप में इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध है।

समीक्षा

कला ■ मनीष पुष्कले

कला चहलकदमी की विलोमता

इस पुस्तक की प्रमुख थीम यह अद्‌भुत जांच है कि वे क्या कारण हैं कि इस नयी शताब्दी की शुरुआत तथा-कथित 'आर्ट-बूम' से शुरू होती है और किस तरह से कला की इस 'लोकप्रियता' में बाजार का बड़ा हाथ है। यह पुस्तक इस तर्क से भी विषय में शिरकत करती है कि किस तरह बीती शताब्दियों से आज तक के समकालीन समय में लोकप्रियता शब्द व उसके लोकतांत्रिक अर्थों में स्खलन से कैसा आतंरिक अंतर हुआ है। हालांकि, ग्रान्टा पब्लिकेशन से छपी सराह थोर्नटन की यह पुस्तक 2008 में ही चर्चा में आ गयी थी लेकिन भारत तक इस पुस्तक को आने में कुछ समय लगा और अब हमारे भारतीय कला जगत के गलियारों में भी इस पुस्तक की चर्चा जमकर हो रही है। पुस्तक की चर्चा के विभिन्न कारणों में से प्रमुख तो यही है कि इस तरह की पुस्तक हमारे संग्रहकर्ता या क्यूरेटर या आलोचक क्यों नहीं लिखते?

सराह थोर्नटन की यह पुस्तक बहुत ही रोचकता से इस बात का बखान करती है कि किस तरह से समकालीन कला एक बड़े स्तर पर लोक-मनोरंजन का उपक्रम बन गयी है । किस तरह से समकालीन कला कुछ लोगों के लिए अभिजात्यों का अड्डा, कुछ लोगों के लिये नव-व्यवसाय तो कुछ लोगों के लिए एक नव-वैकल्पिक धर्म बन गयी है। जैसा कि इस पुस्तक के नाम से ही खुलासा होता है कि सराह थोर्नटन विभिन्न प्रदर्शनियों, प्रमुख संग्रहालयों, प्रसिद्ध कला मेलों और नीलामियों के अपने इन 7 दिनों के अनुभव को बहुत ही रोचकता से बयान करती है और हमें इस बात का अहसास दिलाती चलती हैं कि कला जगत की रोचक चर्चाएँ किस तरह से दीर्घाओं से नीलामी घरों तक आते-आते अपना गल्प बताती चलती हैं। कुल मिलाकर इस पुस्तक को पढ़कर पाठक को कला जगत की रोचक विसंगतियों, टोटकों और कला की सूक्ष्म अनुभूतियों का अंदाजा होता है। वोग पत्रिका के अनुसार इस पुस्तक के जरिये सराह थोर्नटन ने बहुत ही निराले अंदाज़ में इस सभ्रांत कला समाज की अहंकारी मनोदशा को पकड़ने की कोशिश की है जहां गलाकाट स्पर्धा, लगभग अराजक होती जाती विवत्सा, सांस्कृतिक गलियारों की राजनीति और चालबाजियों को समझ सकने की लालसा और अपने हाई स्कूलों में बदनाम रहे लेकिन ग्लैमर के पीछे किसी भी शर्त और परिस्थितियों से समझौता करते लोग किस तरह से इस अभिजात्य समाज का अंग बनने का प्रयत्न करते हैं, यह पुस्तक उन तमाम जुगाड़-बाजियों का लेखा जोखा है।

यह पुस्तक अपनी गर्म-जोशी से 'कला मेलों' और 'स्टूडियो' में होती चहलकदमी के विलोमार्थी अर्थो को बताती है कि किस तरह आज के समय के अंतर्राष्ट्रीय कला मेलों की दीर्घाएँ लालसा और उपभोग के मलिन हैं, जहां एक कलाकृति बाज़ार में बिकने के लिए उपलब्ध सामग्री से अधिक कुछ नहीं है वहीं इसके बरक्स किसी कलाकार से स्टूडियो में जाना एक अलग अनुभव को महसूसना है जहाँ एक कलाकृति अपने होने की प्रक्रिया से गुज़रती है, जहाँ कलाकृति का जन्म होता है। लेकिन इन दोनों चहलकदमियों में मूल फर्क है, एक कला मेले की अंधी-भीड़ है जिसका कला से कोई सरोकार नहीं है, वह भीड़ जो अराजक, ज़रूरत से ज्यादा पढ़ी लिखी और पूर्वाग्रही है तो वहीं दूसरी ओर किसी कलाकार के स्टूडियो में शिरकत किसी जिज्ञासा के द्वार पर दस्तक की मानिंद है। जहां खरीददारी के मायने स्थान के सन्दर्भ से बदल जाते हैं।

इस पुस्तक के ज़रिये सराह थोर्नटन कला जगत में एक किस्म का ऐसा जासूसी नमूना पेश करती हैं जिससे पाठक को इस जगत की भीतरी परतों को भेद कर देख-समझ सकने की संभावना दिखती है। कलाकार, कला आलोचक, कला संयोजक, कला-संग्राहक, कला दीर्घाएँ, कला संग्रहालय और नीलामी घरों की नीति और राजनीति का दस्तावेज है यह पुस्तक। कलाकारों के दीर्घाओं, आलोचकों, संग्राहकों से सम्बन्ध व तनावों की राजनीति, तो वही नीलाम घरों में होती है। सट्टेबाज़ी में जहां किस कलाकार को हाशिये पर लाया जाए और किसे सितारा बनाया जाए, तो संयाजकों और संग्राहकों के अहंकार को इस पुस्तक में कई जगह बेहद ही सटीक ढंग से प्रस्तुत किया गया है ।

इस पूरी पुस्तक में लेखिका इस कला जगत में हो रही विभिन्न गतिविधियों की साक्षी मात्र है, और इन विभिन्न अवसरों पर जो कुछ भी दिखाई-सुनाई दे रहा है वह सब इस पुस्तक का 'मटेरियल' बनता जा रहा है। सराह थोर्नटन इस पुस्तक को लिखते हुए विषय में पूरी तरह से लिप्त होने के बावजूद उससे दूरी भी बखूबी बनाए रखती हैं, जिसके कारण उनका संवेदनशील मानस अपने प्रगटन के पूर्ण ओज में है, ऐसा इस पुस्तक को पढ़ते हुए महसूस होता है।

यह पुस्तक ऐसे समय में आई है जब भारतीय समकालीन कला अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान बनाने की कोशिश कर रही है। यह पुस्तक ऐसे भी समय में आई है, जब भारत से कलाजगत की लगभग सबसे बड़ी प्रदर्शनी वेनिस बिनाले में स्वतंत्र रूप से 2011 में हई। जहां दीर्घा ली गयी और जहाँ रंजीत होसखोटे जैसे जाने माने कला समीक्षक को यह ज़िम्मेदारी दी गयी थी कि वे इस दीर्घा का संचालन करें और यह प्रस्तुत करें कि किस तरह इस दीर्घा से भारत जैसे विशाल और वैविध्य प्रधान देश में समकालीन कला विकसित हो रही है। हालांकि इस वर्ष हमारी सरकार 'वेनिस बिनाले' में अपनी दीर्घा पाने में चूक गयी यह दुखद है। भारत में भी कोई लेखक हमारी समकालीन कला व उसकी विडम्बना को लेकर ऐसी पुस्तक तैयार करे तो बेहतर हो, ऐसी भारतीय समकालीन कला पर, जो अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान बनाने के लिए इतनी बेचैन हैं कि अधिकांश कलाकार वैसे ही काम कर रहे हैं, जो बाहर 'ट्रेंड' में हैं, संयोजक भी अपनी चहुमुखी चेतना को विदेशी पैमाने पर ही मापते हैं। ऐसे में यह पुस्तक जापान की कला व कलाकारों की मानसिकता व उनकी अपनी संस्कृति और विश्वास पर गंभीर चिंतन भी पेश करती है। यह आधुनिक कला में आये व्यावसायिक जोश में होश खोने वालों की पुस्तक है।

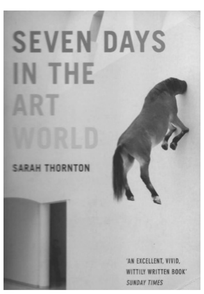

सेवेन डेज इन आर्ट वर्ल्ड
सराह थोर्नटन
ग्रान्टा पब्लिकेशन
नई दिल्ली
मूल्य : 500/-

समकालीन भारतीय चित्रकला के श्रेष्ठतम चित्रकारों में शामिल। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर पहचाने जाने वाले मनीष पुष्कले दिल्ली में रहते हुए रज़ा फाउंडेशन की एक पत्रिका के संपादकीय सहयोगी।
संपर्क : 09911145496

अनुवाद में भी जाति

अनुवाद
■ प्रकाश चंद्रायन

पुस्तक मेला में सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन की किताबें देख रहा था। महान रूसी लेखक लियो टॉल्सटॉय की चौदह पतली-पतली किताबें वहां थीं। किताबें नहीं, पुस्तिकाएं कहिए। सभी शिक्षाप्रद। नैतिक संदेश से भरी हुई। एक पुस्तिका पर नजर पड़ी। नाम था- 'कलवार की करतूत' सहज आश्चर्य हुआ नाम पढ़कर कि क्या टॉल्सटॉय भारत की हिंदू वर्णव्यवस्था से परिचित थे, क्योंकि नाम जातिवाचक था?

'कलवार की करतूत' के आमुख पर नाम के नीचे लिखा है- शराब की बुराइयों पर प्रकाश डालने वाला रोचक नाटक। लेखक/लियो टॉल्सटॉय और अनुवादक/क्षेमानंद 'राहत'। बीस रुपए में 36 पृष्ठों के इस नाटक को 2007 में स.सा.मं. ने प्रकाशित किया है। प्रकाशकीय में मंडल के मंत्री ने लिखा है- 'यह नाटक सुप्रसिद्ध रूसी चिंतक लियो टॉल्सटॉय के 'फर्स्ट डिस्टिलर' का भावानुवाद है।

नाटक में एक शैतानों का सरदार है, जो भांति-भांति के अपने दूतों के माध्यम से विभिन्न वर्गों और समूहों को नियंत्रित करने पर आमादा है। अमीरों के दूत, व्यापारियों के दूत, वकीलों के दूत, औरतों के दूत, अहलकारों के दूत और किसानों के दूत। नरक-लोक में शैतानों के सरदार का निवास है। वहां वह दूतों को बुलाकर विवरण लेता है कि किस दूत ने कितने अमीरों, व्यापारियों, वकीलों, औरतों और अहलकारों को अपने-अपने जाल में फंसाया है। इसका कारण है कि तमाम आबादी दिमागी तौर पर उसके कब्जे में रहे। वह सभी दूतों से संतुष्ट हैं, लेकिन किसानों के दूत से खासा नाराज, क्योंकि उस दूत को किसानों पर कब्जे में नाकामी मिली है। किसानों का दूत कहता है कि तरह-तरह के लालच देकर अमीरों, व्यापारियों, वकीलों, औरतों और अहलदारों को फंसाना आसान है, लेकिन किसानों को नहीं। सरदार दूत को हुक्म देता है कि वह किसी भी तरह किसानों को वश में करे, वरना उसकी खैर नहीं।

दूत मजदूर बनकर किसान का दिल जीतने की तरकीब निकालता है। किसान के खेतों में अच्छी फसल हुई है। घर अनाज से भरा है। नकली मजदूर (दूत) किसान से एक बोरी अनाज मांगता है। वह किसान को बताता है कि इस अनाज से वह ऐसा 'रस' बनाएगा जिसे पीकर मजा आ जाएगा। दूत 'रस' बनाता है और किसान को चखाता है। किसान नशे की गिरफ्त में आता है। किसान अपनी पत्नी को भी 'रस' पिलाता है। इसके बाद पूरा कुनबा 'रस' पीकर नाचता-गाता है। सिर्फ कुनबे का वृद्ध दादा चेतावनी देता है- 'यह पीने की चीज नहीं है, आग है आग। यह तुम्हें जला डालेगी।'

शैतानों का सरदार खुश होता है कि किसान अब रोटी से ज्यादा 'रस' का आदी हो गया है। सारे किसान रस (शराब) के नशे में झूम रहे हैं, चीख रहे हैं, लड़कियों पर झपट रहे हैं। वह दूत (नकली मजदूर) भी कहता है कि उसने किसानों को लोमड़ियों, भेड़ियों और सूअरों की तरह बना दिया है। सरदार भी 'रस' चखता है और मजदूर (दूत) को यमदूतों का सरदार बनाने की सिफारिश यमराज से करने का वचन देता है। शराब का अविष्कार हो गया है और पैशाचिक आनंद की शुरुआत भी।

नाटक उद्देश्यपरक है। शराब की खामियों को उजागर किया गया है। गांधीवादी साहित्य के प्रचार-प्रसार में संलग्न सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन के लिए यह स्वाभाविक है कि वह इस तरह के साहित्य का प्रकाशन करे, लेकिन अनुवाद की खामियों और अनुवाद के दुराग्रह पर नजर रखना भी वांछित है। यहां यह सहज जिज्ञासा होती है कि 'फर्स्ट डिस्टिलर' का अनुवाद क्या होना चाहिए। कोशकार कामिल बुल्के के अनुसार इसका अनुवाद 'प्रथम आसवक' होगा। सहज बुद्धि से 'प्रथम मद्यनिर्माता' या 'पहला शराबनिर्माता'। लेकिन क्षेमानंद 'राहत' ने इसका अनुवाद किया है- 'कलवार की करतूत'। इसे प्रकाशन के मंत्री ने भावानुवाद लिखा है।

अब जरा गौर करें। मान लीजिए, किसी किताब का नाम 'फर्स्ट प्रिस्ट' हो तो उसका 'प्रथम पुरोहित' होगा या 'प्रथम ब्राह्मण' या कि 'ब्राह्मण की करतूत'? मान लीजिए, किसी पुस्तक का नाम 'फर्स्ट वॉरिअर' हो तो उसका अनुवाद 'प्रथम योद्धा' होगा या 'प्रथम राजपूत' या कि 'क्षत्रिय की करतूत'? मान लीजिए, किसी पुस्तिका का नाम 'फर्स्ट वीवर' हो तो उसका अनुवाद 'प्रथम बुनकर' होगा या 'पहला जुलाहा' या कि 'जुलाहे की करतूत'? 'राहत' जी के अनुसार तो तीसरा अनुवाद ही उचित होगा। लेकिन क्यों? जातिसूचक अनुवाद क्यों? क्रियासूचक क्यों नहीं? जातिसूचक इसलिए कि वर्णव्यवस्था में क्रियासूचकता, जाति सूचकता में घटित की गई है। वर्णाश्रम विधान ने हमारी मनोरचना, अवचेतन और अभिव्यक्ति प्रक्रिया को जाति/संप्रदायवादी बना दिया है। उल्लेखनीय है कि टॉल्सटॉय कृत 'फर्स्ट डिस्टिलर' में जाति का उल्लेख नहीं है। उसमें किसान द्रोही सरदार द्वारा किसानों की तबाही के लिए एक दूत द्वारा शराब के निर्माण और उसके दुष्प्रभाव में आए किसानों का नाटकीय वर्णन है, लेकिन अनुवादक ने टॉल्सटॉय की आत्मा पर आघात करते हुए इस कृत्य को एक जाति के मत्थे मढ़ दिया है। दरअसल यह जातिवादी अनुवाद का नमूना है और जातिग्रसित मानसिकता का भी। अनुवादक को यह हक नहीं है कि मूल रचना को अपने दुराग्रह के अनुसार तोड़े-मरोड़े और उसका इस्तेमाल करे।

चूंकि अनुवादक भी हिंदू वर्णाश्रम व्यवस्था का सदस्य होगा, इसलिए अनुवाद करते हुए वह जातिगत आग्रह से बच नहीं पाता है। उसके पास आधुनिक शब्दावली भी नहीं

कलवार की करतूत
लियो टॉल्सटॉय
अनुवादक : क्षेमानंद राहत
सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली
मूल्य : 20 /-

महाराष्ट्र के कई शहरों से प्रकाशित 'लोकमत समाचार' के वर्षों फीचर संपादक रहने के बाद इन दिनों वर्धा और नागपुर में रहते हैं।
संपर्क : 0712 2458231

है, इसलिए वह पुस्तक का नाम जातिसूचक कर देता है, जबकि पुस्तक की विषय सामग्री से उसका कोई संबंध नहीं होता। क्षेमानंद 'राहत' ही नहीं, हिंदी के अनेक लेखक जाति-संप्रदाय से भरे अपने दिमागी तहखाने मे दबे आग्रहों-आधारों से मौलिक लेखन या अनुवाद करते हैं। हिंदी के एक बड़े लेखक के उपन्यास का 'तस्कर' मुसलमान ही क्यों होता है? क्या यह किसी संप्रदाय विशेष का दानवीकरण नहीं है? ऐसा ही आधार और आग्रह क्षेमानंद 'राहत' के अनुवाद का है। इस प्रक्रिया में जाति/संप्रदायगत श्रेष्ठता और निष्कृष्टता की हजारों साल पुरानी सैद्धांतिकी काम करती है।

इस प्रकार का सोच और कर्म का दूसरा पहलू भी है। वह है दोहरी या पाखंडी मानसिकता। मिथक में ही देखें। जो सोमरस का पान करे, वह सर्वश्रेष्ठ, स्वर्ग का अधिकारी, अभिजात, कुलीन आदि और जिससे सोमरस बनवाया जाए वह अधम और नरकवासी? यथार्थ की ओर आएं। जो सत्ता ऐसी नीति और विधि बनाए, जिसमें शराब बनाना, बेचना और पीना वैध और राजस्व प्रधान हो तो वह लोकतांत्रिक, उत्तरदायी, मानवीय और व्यावहारिक लेकिन, इस नीति के अनुसार जो शराब बनाए और बेचे, वह असामाजिक, गैरजिम्मेदार और पतित। पूछा जाना चाहिए कि इस दोहरे मानदंड का सही अपराधी कौन है? अपराधी तो दिमाग के निर्देश पर काम करता है। भारतीय मिथक और यथार्थ में ऐसे अनेक उदाहरण हैं- करे कोई भरे कोई। ऐसा ही सोच और कर्म क्षेमानंद 'राहत' का है। आश्चर्यजनक तो यह है कि सस्ता साहित्य मंडल के विद्वान परामर्शदाताओं ने छह सालों में इस पर ध्यान क्यों नहीं दिया? यह भी एक 'खास तरह की बौद्धिकता' की मिसाल है।

अनुवादक की मनोरचना का समाजशास्त्रीय पक्ष यह है कि उत्तर प्रदेश और बिहार में 'कलवार' नामक जाति रहती है। यह वैश्य समाज की उपजाति है। अतीत में यह जाति शराब निर्माण सहित अन्य व्यवसायों से जुड़ी रही है। आज भी यह उद्योग और व्यवसाय प्रधान जाति है। वैसे तो पूरे देश में शताधिक जातियां शराब निर्माण से जुड़ी रही हैं। जनजातियों के जीवन में यह रोजमर्रा की जरूरत है। अनेक जनजातियां महुआ, हड़िया, सल्फी आदि बनाती और पीती हैं। यह उनकी आल्हाद-प्रक्रिया का हिस्सा है। इसका मतलब यह नहीं है कि वे शराब का कारोबार करती हैं। शराब का सबसे बड़ा कारोबारी तो राज्य है क्योंकि वही इसका नियंत्रक है न कि कोई जाति।

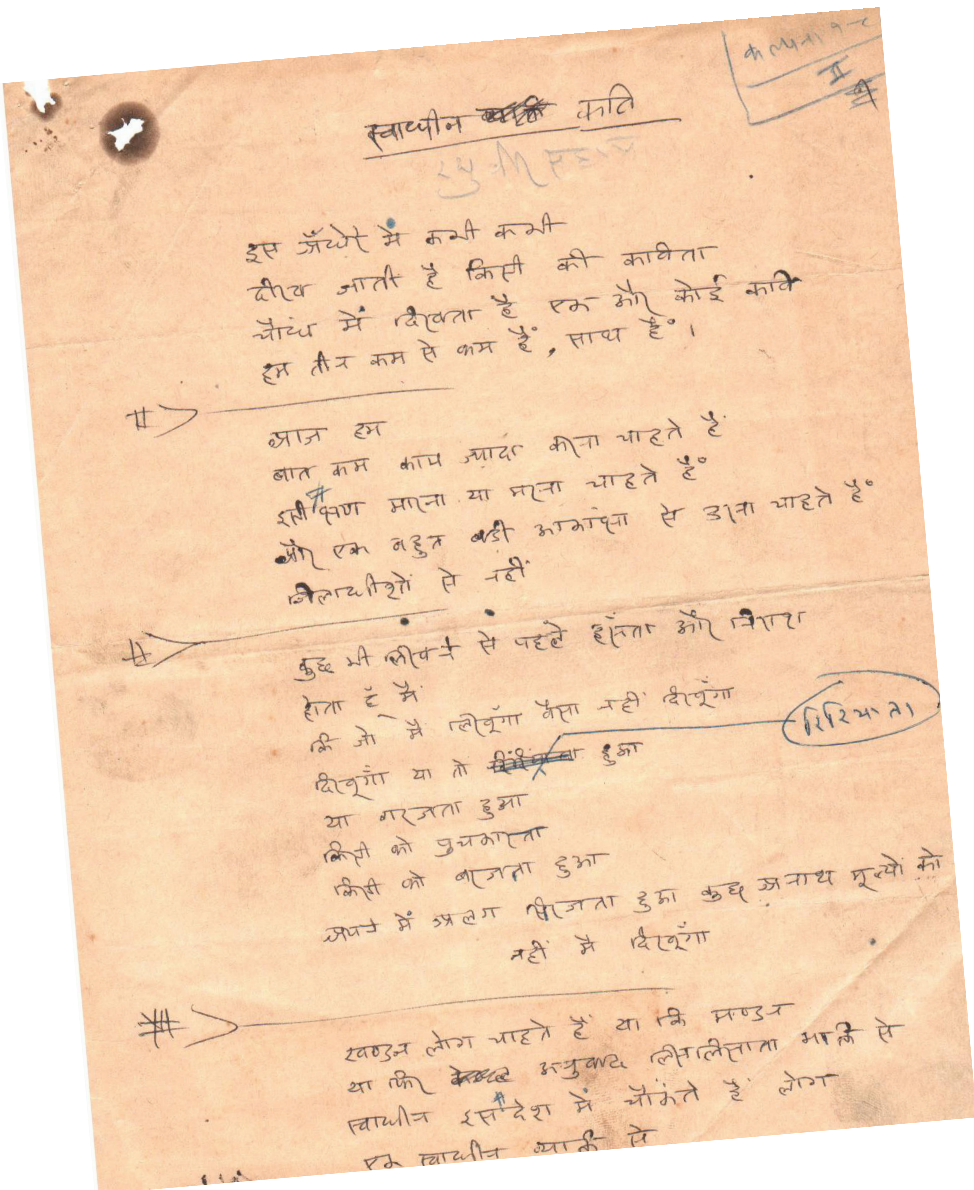

गजानन माधव मुक्तिबोध की हस्तलिखित कविता स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

वैश्विक विमर्श और हम

समकालीन साहित्य-चिंतन : एक सर्वेक्षण

■ विनोद शाही

हमारे समय में साहित्य-चिंतन के नएपन की वजह यही नहीं है कि इस दौर में साहित्य का अस्तित्व संकट में पड़ा है, अपितु यह भी है कि खुद साहित्य-चिंतन को अपने बचाव में उतरना पड़ रहा है।

हाल में ही हमारे समय के एक बड़े चिंतक टेरी ईगल्टन ने 'साहित्य चितन के सिद्धांत के अंत' की बात उठायी और फिर उसके बचाव में दलीलें पेश की, दरअसल, सन् साठ के बाद से साहित्य की विविध विधाओं के 'अंत' की बातें, लगातार उठायी जाती रही हैं, वह संकट अब खुद साहित्य-चिंतन का संकट बनने की ओर आगे बढ़ा है इस चुनौती का सामना करने के लिये साहित्य चिंतन के अनेक नयी दिशाओं को छूने और आगे बढ़ने की जरूरत सामने आ रही है। आइए, देखने की कोशिश करें कि इस 'अंतवाद के शोर' की असल वजह क्या है और उससे उबरने के लिये साहित्य-चिंतन के द्वारा ग्रहण की गयी नयी दिशाएं कौन सी हैं?

यहां पहली बात यह समझने लायक है कि हमारे दौर में साहित्य का विशुद्ध साहित्य के रूप में जो अस्तित्व था, वह अब नहीं बचा है साहित्य अब 'व्यापक संस्कृति' के अंग के रूप में अपने अर्थ और प्रयोजन को पाता है। तो यह जो सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य है, उसमें साहित्य के साथ और बहुत सी चीजें हैं, जिनके सह और समातंर साहित्य को अपने आप को बचाना पड़ता है। इन बहुत सी चीजों में से सबसे ताकतवर है- जनसंचार माध्यमों के द्वारा पुष्ट होने वाली 'लोकप्रिय संस्कृति'। उच्च तकनीकी ने हमारे दौर को 'मास मीडिया' के रूप में उत्तर-आधुनिक सांस्कृतिक उत्पादों से भर दिया है। इंटरनेट से लेकर लोकप्रिय धारावाहिकों तक में ऐसे सांस्कृतिक उत्पादन उपभोक्ताओं तक पहुंचाये जा रहे हैं-जो 'साहित्य जैसे' ही मालूम पडते हैं। ऐसे में 'रचनात्मक साहित्य' का अब तक का जो एक 'विशुद्ध रूप' साहित्य-चिंतन के द्वारा स्थापित हुआ था- उसकी जरूरत और प्रयोजन को लेकर सवाल उठ खड़े हुए हैं। अडानी और वाल्टर बेंजामिन जैसे साहित्य-चिंतकों ने इसे 'संस्कृति के उद्योग' का नाम दिया है और इसके उत्पादों को' यांत्रिक पुनरुत्पादनों' की तरह समझा और समझाया है। तो ऐसी लोकप्रिय संस्कृति के उत्पादों के संदर्भ में अब हम साहित्य की व्याख्या कैसे करेंगे-यह सवाल नये रूप में हमारे सामने आकर खड़ा हो गया है, अब हम साहित्य को संस्कृति की दुनिया या 'परिप्रेक्ष्य' से बाहर रख कर देखने की स्थिति में नहीं रह गये हैं। जबकि आधुनिक काल के आरंभिक दौर तक साहित्य खुद एक तरह का 'व्यापक परिप्रेक्ष्य' था, जिसमें धर्मग्रंथों से लेकर अन्य सभी ज्ञानानुशासनों की गणना की जाती थी। संस्कृति को मुख्य 'धर्म या लोक' से जुड़ा माना जाता था और साहित्य इसके मुकाबले में खुद अपने पैरों पर खड़ा था। एक उदाहरण देखें-

कबीर की एक पंक्ति है- 'पाछे लागा जाइ था, लोकवेद के साथ, आगे ते सतगुरू मिल्या, दीपक दीया हाथ' यहां 'लोक' और 'वेद' संस्कृति की दो घटाओं या रूपों की तरह हैं। एक का ताल्लुक जन संस्कृति से है ओर दूसरे का धर्म-संस्कृति से जबकि साहित्य 'अनुभव' और 'विवेक' की उपज है, जिसकी एक अपनी अलग काव्य शास्त्रीय परंपरा है। यहां इस ओर इशारा करना जरूरी है कि संस्कृति को सत्ता के द्वारा हमेशा ही अपने हितों की पूर्ति के लिये इस्तेमाल किया जाता है। इसके लिये सत्ता धर्म-संस्कृति को, समाज की मुख्य धारा के रूप में स्थापित? रखने का प्रयास करती रही है। और ऐसा करते हुए वह इस धर्म-संस्कृति के 'मूल्य-विधान' को ज्यादा महत्त्व देकर, 'लोक' की संस्कृति को अपने साँचे में ढालने के लिये काम करती हैं। यही वह तरीका है, जिससे लोक-संस्कृति का धर्म-संस्कृति की मुख्यधारा के द्वारा नियंत्रण व संचालन होता आया है। परंतु जिसे हम रचनात्मक साहित्य कहते हैं। वह इन दोनों से अलग, एक 'अपनी' पहचान बनाये रखने में कामयाब रहा है। इसीलिये साहित्य के सृजनधर्मी रूपों की मानवीय संवेदनशीलता तथा प्रतिरोधी प्रगतिशीलता सत्ता और धर्म - दोनों के लिये एक अनसुलझी समस्या बनी रही है। यही वजह है कि कबीर को साहित्य के क्षेत्र में सक्रिय रहने की अपनी स्थिति 'छट जला कर' निकल पड़ने वाली थी। (जो घर जाले आपना, चले हमारे साथ)।

अब इस उदाहरण को अपने सामने रखेंगे, तो समझ सकेंगे कि आधुनिक काल के आरंभिक दौर तक साहित्य अपनी अलग और विशिष्ट पहचान बनाये रखने की वजह से, कभी उस तरह के संकट का शिकार नहीं हुआ, जैसे कि वह इसके बाद के उस दौर में दिखायी देता है- जिसे हम 'उत्तराधुनिक काल' कह कर समझने की कोशिश कर रहे हैं।

उत्तराधुनिक काल में साहित्य, संस्कृति के एक अंग की तरह उसमें विलय हो जाने के कारण, अपना विशिष्ट अस्तित्व खो चुका है। इसलिये अब साहित्य के बारे में 'निर्णय और मूल्यांकन' का काम, सत्ता के हितों की रक्षा करने वाली 'सांस्कृतिक संस्थाओं' के हाथों में चला गया है। टेरी ईगल्टन ने 'साहित्य के सिद्धांत की मृत्यु' (डैथ ऑफ लिटरेरी थ्योरी, यू सी बकीले लेक्चर 10 अप्रैल 2010) का सवाल यह कहते हुए उठाया है कि अब 'पूरी संभावना है कि साहित्य का मूल्यांकन सत्ता के सांस्कृतिक और अकादमिक संस्थान करने लगेंगे' हालांकि, हालात इतने निराशाजनक भी नहीं हैं। टेरी ईगल्टन तथा अन्य नवमार्क्सवादी तथा उत्तराधुनिक साहित्य चिंतन यहां

वरिष्ठ आलोचक। कई किताबें प्रकाशित। वैश्विक स्तर पर चल रहे विभिन्न विमर्शों में गहरी दिलचस्पी।
संपर्क : 09814658098

'साहित्य और साहित्य-चिंतन पर मंडराते जिस संकट' की बात कर रहे हैं, वह मुख्यत उन देशों के सांस्कृतिक परिदृश्य को ध्यान में रख कर ही सामने आ खड़ा प्रतीत होता है। जहां 'औद्योगिक तथा उत्तर औद्योगिक पूंजीवाद' अपनी जड़े जमाने में लगभग कामयाब हो चुका है। तीसरी दुनिया का सांस्कृतिक परिदृश्य थोड़ा अलग है। इसलिये वहां साहित्य और साहित्य चिंतन में बहुत सी नयी बातें तो जरूर दिखायी दे रही हैं, परंतु वे ऐसी नहीं हैं कि हम उन्हें 'साहित्य और साहित्य सिद्धांत की मृत्यु' के करीब आ जाने के हालात की तरह देख सके।

तीसरी दुनिया के सांस्कृतिक परिदृश्य में अभी स्थितियां ऐसी नहीं हुई हैं कि साहित्य के अलग और विशिष्ट रूप का संस्कृति के व्यापक परिदृश्य के द्वारा समूचा 'विलयन व आत्मसातन' हो गया हो। वजह यह है कि पुस्तकों या साहित्यिक कृतियों का प्रकाशन-तंत्र तीसरी दुनिया में अभी तक पूरी तरह से 'मुनाफ़ावादी पूंजी के बाजार तंत्र' में खप नहीं पाया है। स्वतंत्र लेखन और स्वयंसेवी संस्थाओं के द्वारा साहित्य का 'मुनाफे की परवाह किये बगैर' प्रकाशन अभी तक जारी है और फिर ऐसे साहित्य का एक अपना अलग पाठक-वर्ग भी अभी तक बचा हुआ है।

यहां हम भारत के सांस्कृतिक परिदृश्य की विशिष्टता और अलहदगी को अलग से भी रेखांकित कर सकते हैं। भारत में मध्यकाल से ही ऐसे हालात रहे हैं कि धर्म का 'व्यवस्थित किस्म' का संस्थाकरण बहुत गहरे में जड़ें नहीं पकड़ पाया। हिंदू धर्म के अंतर्गत हमेशा ही एक 'विविधता धर्म स्वतंत्रता' के लिये गुंजाईश बनी रही। बौद्ध धर्म का 'संघ-बद्ध' रूप भी भारत से ज्यादा इन देशों में जड़ें जमाने में कामयाब हुआ जहां वह यहां से आगे चला गया। इससे भारत में यह हो सका कि अनेक ऐसी कृतियां, जो 'विशुद्ध साहित्यिक' रूप व महत्त्व वाली थीं, उनकी मान्यता व प्रचलन लोगों में इस हद तक हो सका, जैसे कि वे साहित्यिक ग्रंथ न होकर धर्मग्रंथ हों। रामायण, महाभारत और उसके एक अंग की तरह रचित भगवद्-गीता तथा रामचरितमानस ऐसी ही साहित्यिक कृतियों के उदाहरण हैं। इससे पता यह चलता है कि भारत में कभी भी धर्म-संस्कृति सत्ता के एक हथियार की तरह उस हद तक इस्तेमाल नहीं की जा सकी कि वह साहित्य और साहित्य-चिंतन के अस्तित्व को संकटपूर्ण बना सके। अतः हम यह कह सकते हैं कि भारत की सांस्कृतिक परंपरा के 'इतिहास' में, साहित्य की स्थिति को संकटपूर्ण बनाने वाली प्रवृत्तियां अभी इतनी बलवती नहीं हुई हैं कि वे अब फल-फूल कर वृक्ष बनकर साहित्य का सत्ता या धर्म की संस्कृति में पूरा विलय कर सकेंगी (इस विवेचन के लिये संदर्भ के रूप में पिछले कुछ ही समय में प्रकाशित उत्तराधुनिक दौर की इन किताबों को संदर्भ व प्रस्थान के रूप में देखा जा सकता है। 'द आर्गुये में टेटिव इंडियन' अमर्त्य सेन 'इन थ्योरी'-एजाज अहमद एवं और ओरिएटज्मि' एडवर्ड सईद 'मिथ एण्ड रिएलिटी द स्टडीज इन द फौर्मेशन ऑफ इंडियन कल्चर-डी.डी कौसांबी)।

तीसरी दुनिया और भारत के परिदृश्य का आकलन करते हुए हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि पश्चिम के उत्तर-औद्योगिक हालात में संस्कृति को जिस तरह से 'सांस्कृतिक उधोग' में बदला जा सका है, वह काफी हद तक बाकी दुनिया में आ रही तब्दीली की भी व्याख्या करता है, परंतु उसे इस शेष विश्व का 'पूरा यथार्थ' नहीं कह सकते हैं।

परंतु वस्तुस्थिति यह है कि भारत समेत, पूरी तीसरी दुनिया के पास 'साहित्य-चिंतन' के रूप में, जो भी 'नये विचार' आ रहे हैं, वे पश्चिम में विकसित हुए 'संकटग्रस्त साहित्य से संबंधित चिंतन' से ताल्लुक रखते हैं। इसे हम तीसरी दुनिया में 'वर्चस्वी पश्चिम के ज्ञान के आयात' व 'आरोपण' का नाम दे सकते हैं। इस 'आरोपित चिंतन' को स्वीकार कर लेने से हमारे यहां भी यह विचार चला आता है कि हमारा साहित्य भी 'पश्चिम के संस्कृति-उद्योग' की छाया में पड़ा हुआ है। और उसका अपना अलग व विशुद्ध अस्तित्व अब उसके पास नहीं बचा है। साहित्य-चिंतन में आयातित चिंतन रूपों की समस्या को 'उत्तर औपनिवेशिक साहित्य-चिंतन' के रूप में समझने की कोशिश की जा रही है।

साहित्य चिंतन में प्रकट हुए इस नये 'उत्तर-औपनिवेशिक संकट' के साथ 'प्रवासी साहित्य-चिंतन' की समस्यायें भी आ जुड़ी हैं। तीसरी दुनिया के उत्तर-औपनिवेशिक यथार्थ को एडवर्ड सईद तथा 'एजाज अहमद' ने सैद्धांतिक रूप देने की कोशिश की है। एडवर्ड सईद का सिद्धांत 'प्राच्यवादी' साहित्य चिंतन के रूप में सामने आया है। जबकि एजाज अहमद इसे 'तृतीय विश्ववादी सिद्धांत' कहना ज्यादा पसंद करते हैं। इन चिंतकों के द्वारा पश्चिम के वर्चस्वी साहित्य चिंतन के 'सांस्कृतिक उद्योग' वाले संकट से अलग हटते हुए, यह समझने की कोशिश की गयी है कि कैसे तीसरी दुनिया का 'अपनी जमीन से ताल्लुक रखने वाला साहित्य' भी श्रेष्ठ कोटि का साहित्य है। ओर दूसरे यह कि वह कैसे उत्तर-औद्योगिक संकट के ही मुख्य संकट का साक्षी न हो कर 'दोयम या गौण बना दिये जाने' की वजह से उपजे अलग तरह के संकट की चुनौती का सामना करता है? इस दोष मत के संकट को गायत्री चक्रवर्त्ती स्पीवाक ने अपनी किताब के शीर्षक के रूप में उठाये गये इस सवाल की तरह पेश किया है कि 'क्या दोयम-जन बोल सकते हैं।' (कैन सबाल्टर्न स्पीक)'।

वर्चस्वी मुख्यधारा की उत्तर-औद्योगिक संस्कृति की ही एक उद्योग में बदल देने वाले पश्चिम के संकटग्रस्त साहित्य और उसके चिंतन को, इस संकट से उबारने के लिये अनेक तरह की दलीलें पेश की जा रही हैं। ये तमाम तर्क पश्चिमी साहित्य चिंतन के समकालीन रूप में मौजूद 'नये विचारों व प्रवृत्तियों' की ओर इशारा करते हैं। आइए, संक्षेप में इन्हें समझने और रेखांकित करने का एक प्रयास करें।

एकः संस्कृति के एक अंग की हैसियत में आ जाने के कारण अब साहित्य भी संस्कृति के तमाम दूसरे ज्ञानानुशासनों की तरह 'वैज्ञानिक व तर्कसम्मत व्याख्याओं (साइंटिफिक एण्ड रैशनल इंटरप्रिटेशन्ज)' की भूमि के रूप में देखा जाना चाहिये।

दो : साहित्य की अपनी अलग और विशुद्ध सत्ता के व्यापक सांस्कृतिक परिदृश्य में विलय हो जाने के कारण अब साहित्य की व्याख्याओं (इंटरप्रिटेशन्ज) को 'काव्यशास्त्र' या 'साहित्यशास्त्र' या 'साहित्य के सिद्धांत' (थ्योरी ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म') के द्वारा समझने की बजाय, 'अंतरनुशासनात्मक' तरीके से काम करना चाहिए।

इसका मतलब यह है कि अब अगर साहित्य के किसी आलोचना-सिद्धांत की हमें बात करनी हो, तो उसका संबंध अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दर्शन, विज्ञान, संस्कृति, धर्म आदि ज्ञान के तमाम दूसरे अनुशासनों से होना चाहिए, ताकि उसकी 'वैज्ञानिकता' की परख हो सके।

तीन : संस्कृति के सभी ज्ञान-उपांगों या अनुशासनों की जिस प्रकार अपनी-अपनी ज्ञान-भाषा होती है, उसी तरह साहित्य को भी एक खास तरह की ऐसी 'भाषिक अभिव्यक्ति माना जाना चाहिये, जिसकी व्याख्या' भाषा के नियमों संरचनाओं, रूपों, स्तरों व आयामों से की जा सकती हो। अतः साहित्य-चिंतन को "ज्ञान की विविध भाषाओं' की तरह विश्लेषित करते हुए, उसके मर्म या प्रयोजन को 'अर्थमीमांसा' के मार्ग में ग्रहण करने का प्रयास किया जाना चाहिए।

चारः ज्ञान की विविध भाषाओं (नॉलेज डिस्कोर्सेस) तथा उसकी अर्थमीमांसा' (न्युटिक्स) का संबंध, चूंकि विविध सामाजिक व मानवक्षितगत संरचनाओं से होता है, अतः साहित्य-चिंतन के लिये भी सामाजिक संरचनाओं (सोशल स्ट्रक्चर्ज) व 'चित्र संरचनाओं' (स्ट्रक्चर्ज ऑफ माइंड एवं सायकी) से मानते हुए, उनके 'गठन' या 'विखण्डन' या पुनर्गठन द्वारा साहित्य के अर्थ

को समझना चाहिए। यहां उत्तर संख्या एवं 'विखण्डन' के सिद्धांत, साहित्य चिंतन के नये सिद्धांतों की तरह महत्त्व रखने वाले हो जाते हैं।

पांच : साहित्य को एक 'संस्कृतिपाठ' या 'भाषिक पाठ' मानकर, अब यह दलील दी जा रही है कि

(1) साहित्य भी अन्य भाषा-पाठों जैसा ही एक अन्य पाठ होता है।

(2) साहित्य की रचना, उसकी परंपराओं से बंधी होती है, परंतु उसमें 'समय का यथार्थ' भी अपनी भूमिका निभाता है।

(3) इसलिए लेखक वही लिखता है, जो उससे परंपरा व समय के द्वारा लिखवाया जाता है।

(4) 'परंपरा और समय' मिल कर संस्कृति के रूप में अर्थपूर्ण होते हैं। अतः संस्कृति की तरह मौजूद सभी का साझा अर्थबोध ही साहित्य की रचना का हेतु होता है।

(5) इस तरह लेखक के द्वारा जो साहित्य रचा जाता है, वह सबके साझे अर्थबोध का आईना होता है।

(6) तब यह भी कह सकते हैं कि पाठक वर्ग ही लेखक के भीतर से साहित्य की रचना का आधार बनता है।

ये दलीलें 'लेखक की मृत्यु' और 'पाठकवादी आलोचना के जन्म' की ओर ले जाती हैं।

छह : पाठक के चित्र का निर्माण 'सामूहिक संस्कृति' करती है परंतु हमारे समयों में संस्कृति की 'सामूहिकता' का निर्माण, खुद पाठक न करके, और दूसरी आर्थिक-सामाजिक-राजनैतिक ताकतें करने लगी हैं। इसलिये साहित्य की रचना के पीछे भी इन ताकतों की भूमिका बढ़ी हैं, इसका मतलब यह है कि

(1) बाजार पर जिन वर्गों का कब्जा होता है, वे प्रकाशन-प्रसारण से जुड़े जनसंचार माध्यमों के द्वारा पाठकों की खास तरह की 'रुचियों' का उत्पादन करते हैं। वे विज्ञापनों द्वारा या फैशन व ग्लैमर द्वारा या पाठकों-दर्शकों के समूहों की 'टी.आर.पी.' के द्वारा यह तंय करते हैं कि पाठक क्या पढ़ेगा और दर्शक क्या देखेगा?

(2) समाज में जो वर्ग ताकतवर होता है, वह अपनी 'संस्कृति' या 'अपनी तरह के मूल्यों' को स्थापित और प्रकाशित करने की कोशिश करता है इससे वह साहित्य के खास तरह के 'रूपों की मांग' को पैदा करता है।

(3) सत्ता की अपनी जरूरतें होती हैः वह बाजार के तथा समाज के ताकतवर वर्गों को अपने हक में करता हुआ, आप लोगों की 'चेतना को अनुकूल बनाने' की कोशिश करता है। सत्ता के 'चेतना-अनुकूलन' में साहित्य की भी भागीदारी खड़ी की जाती है।

इस तरह साहित्य, 'विशुद्ध साहित्य' न रह कर, 'सत्ता का संस्कृति पाठ' हो जाता है।

सातः सत्ता के संस्कृति-पाठ के सामने चुनौतियां रहती हैं कि वह सामान्य जन-समुदायों में से कितनों को अपने साथ रख पाता है? इसलिये अनेक वर्गों-समुदायों को अपने अपने दमित अर्थों की सीमित अभिव्यक्ति की आजादी दे दी जाती है। ये सभी अभिव्यक्तियां, हमारे समय की 'संस्कृति के दमित-पाठों का साहित्य' बन कर उभरी हैं। इनके रूप में हमारे साहित्य और साहित्य-चिंतन के अनेक नये क्षेत्र खुले और विकसित हुए हैं-जैसे, स्त्री लेखन का 'स्त्रीवादी' रूप सामने आया है, और भारत में दलित लेखन का एक अलग-दलितवादी आयाम खुल गया है प्रवासी, उत्तर-औपनिवेशिक, युवा, आदिवासी और पर्यावरणीय या परिस्थितिक साहित्य भी इसी तर्ज पर धीरे-धीरे अपने अलग 'वाद' के गठन तक जाता हुआ मालूम पड़ रहा है।

आठ : साहित्य-चिंतन के तल पर, इन नये क्षेत्रों व आयामों के खुल जाने से, खासतौर पर 'स्त्रीवादी आलोचना' बहुत विकसित होती हुई दिखाई दे रही है इसमें विशुद्ध साहित्य-चिंतन से अलग भी बहुत कुछ ऐसा आ जुडा है कि यह क्षेत्र 'सांस्कृतिक धरातल पर नवचिंतन' का अग्रदूत होता जा रहा है इसकी वजह यह है कि इसमें

(1) अब तक की संस्कृति की जो पितृसत्ता वाली व्याख्या व समझ थी, उसे उलट दिया गया है।

(2) समाज की संस्था को लेकर जो पितृ-व्यवस्था वाला ढांचा था, उस पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया गया है।

(3) यहीं नहीं, इसमें संस्कृति व समाज की ही पुनर्गठना के स्वर नहीं हैं। यह आलोचना-चिंतन, मानव-चिंतन की भी एक नयी व्याख्या की जरूरत तक चला गया है।

संस्कृति, समाज एवं इन तीनों धरातलों के विखण्डन और पुनर्गठन के लिहाज से यह आलोचना सबसे आगे निकल रही है तथापि यहां मानवविज्ञान और समाजशास्त्र वाले संरचनावादी दौर के सिद्धांतों को पीछे छोडते हुए, अब राजनीति और मनोविश्लेषण की ओर ज्यादा ध्यान दिया जा रहा है।

मानवविज्ञान पर जोर देने वाली संरचनावादी आलोचना ने 'आद्यबिम्बात्मक आलोचना' (आर्केटाईपल-क्रिटिसिज्म) का ज्यादा विकास किया था।

इसी तरह उस दौर में समाजशास्त्र पर ज्यादा नजर टिकाने वाले आलोचक एक नये 'इतिहासवादी साहित्य शास्त्र' की ओर आगे बढ़े थे।

उसी तर्ज पर यह कहा जा सकता है कि यह 'स्त्रीवादी आलोचना' भी एक नया आलोचना-क्षेत्र बन रही है, जहां राजनीतिशास्त्र और मनोविश्लेषणवाद की भी ज्यादा भूमिका है।

साहित्य और साहित्य-चिंतन के क्षेत्र में समकालीन दौर का पर्याय हो सकने वाले 'चयन' के विविध रूपों और पहलुओं के ऊपर जो एक सर्वक्षेण प्रस्तुत किया गया है, वह हमें इस सवाल तक ले आता है कि फिर हमारे समय में साहित्य की व्याख्या के तर्कसंगत, विश्वसनीय और अर्थपूर्ण रूप क्या हैं? अभी तक हम साहित्य के किसी वैश्विक या सामूहिक रूप पर ध्यान देते आये थे इसलिए हमारी व्याख्यायें हमारी मदद यह तय करने हेतु होती थी कि किस साहित्य को 'कालजयी' माना जा सकता है?

परंतु अब साहित्य और साहित्य-चिंतन, इसकी बजाय यह तंय करने में हमारी मदद ज्यादा कर रहा है कि हम जहां हैं, हमारा क्षेत्र जितना है और जैसा है-उसी के संदर्भ में हम साहित्य को देखें, रखें और तय करें कि कौन सा साहित्य हमारी इस 'स्थानीय सापेक्षता' में हमारी मदद ज्यादा करता है?

इसका मतलब यह है कि हमारे समय का साहित्य और साहित्य-चिंतन, हम पर 'समझ के किसी मॉडल या प्रतिमान' को आरोपित नहीं करता हैं।

दूसरी बात यह भी उभर कर सामने आ रही है कि हमारे समय का यह साहित्य और उसका चिंतन, यथासंभव 'हमारे और करीब आने' की कोशिश कर रहा है।

और तीसरी बात यह कही जा सकती है कि यह साहित्य और यह चिंतन, हमारा जितना करीब आता है, उतना ही वह हमें-यानी हमारे सामान्य लेखक-पाठक को सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक चुनौतियों के सामने एकदम 'करीबी नग्न साक्षात्कार' करने और सामना करने की चुनौती तक ले आता है।

■ विनोद कुमार शुक्ल

इतना थोड़ा सा बचा रहेगा कि पूरा हो जाएगा

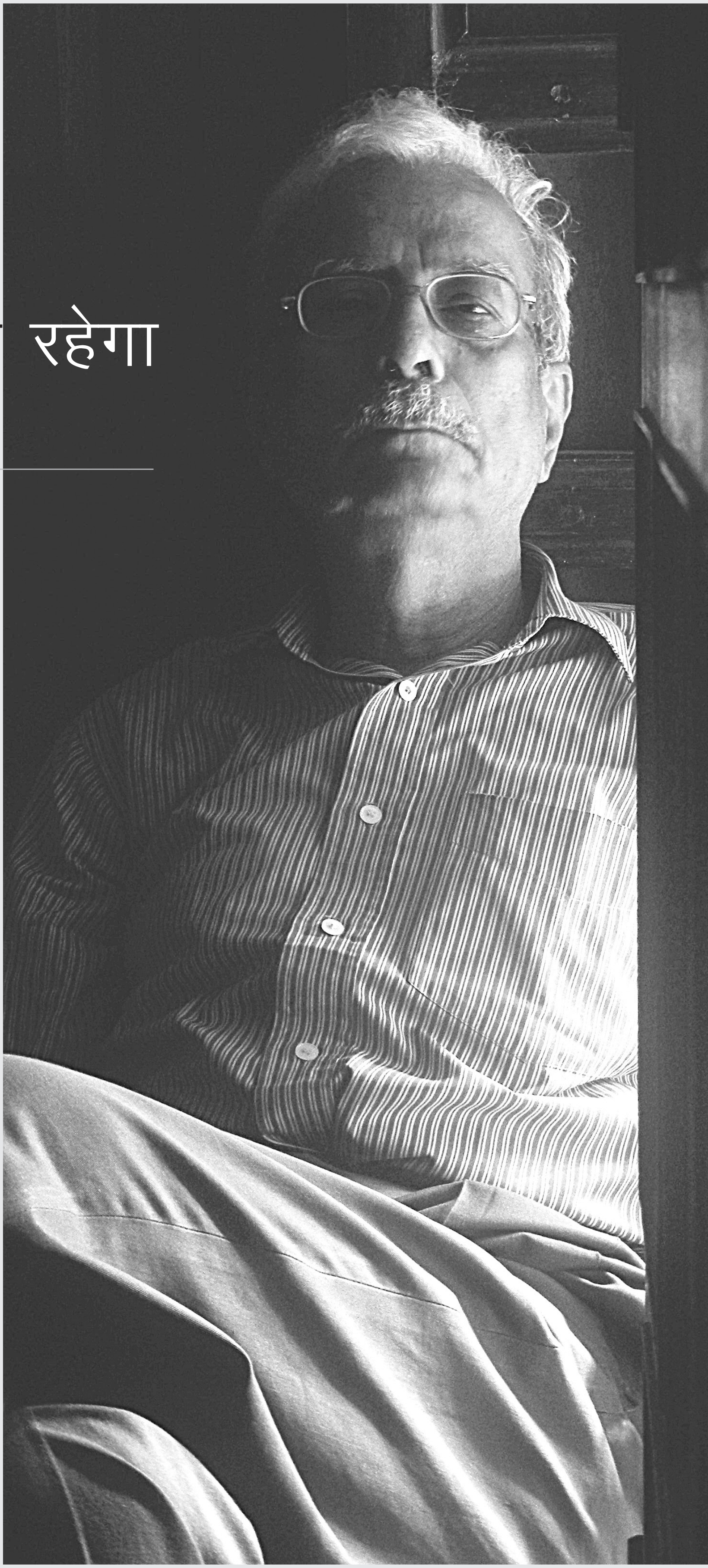

महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में रहते हुए जो पढ़ा, जो लिखा

जब पढ़ते-पढ़ते थक जाता हूं तो फिर लिखने लगता हूं। यहां मेरे दो काम हैं : मैंने जितना यहाँ रहते हुए पढ़ा, उतना शायद ही इतने कम समय में मैंने पढ़ा हो। यहाँ रहते हुए एक तो रोजा हजनोशी गेरमासूम का 'अग्निपर्व' और 'शांतिनिकेतन' पढ़ा। मैंने चार महीने में करीब डेढ़-दो हजार पृष्ठ पढ़े होंगे और ये जो किताब रोजा हजनोशी की अग्निपर्व है यह अच्छी किताब है। हंगेरियन महिला की शांतिनिकेतन में रहते हुए एक तटस्थ दृष्टि से, बल्किएक विदेशी दृष्टि से देखते हुए शांतिनिकेतन में रहते हुए उन्होंने क्या/कैसा महसूस किया इसी के बारे में है। जबकि यह एक डायरीनुमा उपन्यास है लेकिन यह इस तरह से लिखा गया है कि डायरी जैसा तो इसमें कुछ नहीं है सिवाय इसके कि कहीं पर कुछ तारीख हो या कहीं पर कुछ सन् अंकित किए हों। लेकिन उस तरह से ये डायरी नहीं है ये एक बहुत सुंदर उपन्यास कृति की तरह है। मैंने इसे पढ़ा और ये मुझे बहुत अच्छा लगा। शायद इसे तैयार करने में दूसरे लोगों का भी हाथ था, जो पहले उसने शायद डायरी के रूप में लिखा।

फिर मैंने अभी 'कामीलो खोसे मेला का 'पास्कुआल दुआर्ते का परिवार' उपन्यास पढ़ा। यह भी एक अद्‌भुत उपन्यास है। और बहुत अच्छे से लिखा हुआ। इसका गद्य बहुत अच्छा है। और मेरा ख्याल है कि दुःख और तकलीफ से गुजरते हुए सुख की तलाश में आदमी कैसे अपने दुःख के रास्ते को और तैयार करता हुआ चला जाता है ये मुझे इस उपन्यास में मिला। (कामीलो खोसे मेला स्पेन के नोबेल पुरस्कार प्राप्त उपन्यासकार हैं। कामीलो खोसे मेलो का जन्म 11 मई 1916 में हुआ। स्पेनी गृहयुद्ध के बाद के वर्षों में जो लेखक सामने आए, उनमें मेलो सर्वप्रमुख हैं और स्पेनी ही नहीं बल्कि विश्व साहित्य में उनका नाम आदर से लिया जाता है)

तीसरी पुस्तक जो मैंने पढ़ी है वह मेरी टाइलर की 'भारतीय जेलों में पाँच साल' है जिसका अनुवाद आनंदस्वरूप वर्मा ने किया है ये भी बहुत अच्छा लिखा हुआ है। यद्यपि इसमें जेल में रहते हुए उनका अनुभव हैं पर यह एक बड़े उपन्यास की तरह है। यहाँ रहते हुए मैंने लिखने का काम भी किया। मैं अपना पढ़ा हुआ लगभग भूल जाता हूँ। बहुत कुछ और भी मैंने यहां रहते हुए पढ़ा है। शायद ये भूल जाना मेरे लिए ठीक भी है। अगर कहीं रोज-रोज का पढ़ा मुझको याद रहे तो रोज-रोज का लिखना मेरा बंद हो जाए।

अभी यहां रहते हुए मैंने एक उपन्यास लिखना शुरू किया है। जिसका एक अंश पूर्वग्रह में भेजा है। उपन्यास का नाम तो मैंने अभी तंय नहीं किया लेकिन जो अंश मैंने भेजा है उसका शीर्षक मैंने दिया है- 'सुई के गिरने की आवाज का अलार्म'। कविताएं भी मैंने उनको भेजी हैं। कोशिश करूंगा कि इस उपन्यास को यहीं रहते हुए पूरा कर लूं। जितना भी लिख सकूंगा उसे ठीक लिख सकूंगा। जो भी बचा रहेगा शायद न भी बचा रहेगा या जो बचा होगा वह इतना थोड़ा बचा होगा कि पूरा हो जाएगा।

वर्धा में शाम

मैं रायपुर में उस तरह से रहते हुए ऊब चुका था। मेरी बड़ी इच्छा थी कि मैं छात्रावास में छात्र की तरह रहूँ और यहाँ आने के बाद मुझे बदलाव मिला है। बीच में तबीयत मेरी बहुत खराब रही और कुछ एक दूसरी तरह का एकांत मुझे यहाँ मिला है। घर में मुझे पूरा एकांत मिल जाता था लेकिन वह एकांत इतना जाना पहचाना एकांत था कि मैं उस एकांत में उस तरह का महसूस नहीं कर पा रहा था जो मुझे करना चाहिए था। यहां आने के बाद जिस तरह का एक बदला हुआ माहौल मुझे मिला है, जिसमें मेरी तरफ से अपनी उस तरह की कोई कोशिश नहीं है। मुझे पूरा का पूरा यहां जो वातावरण मिला है वह इस तरह का वातावरण है कि मैं इस वातावरण के अनुसार अपने को ढ़ाल रहा हूँ, जो मेरे बदलाव के लिए बहुत जरूरी था। मैंने रायपुर की सड़क पर घूमना बंद कर दिया था। लेकिन यहां विश्वविद्यालय में अंदर की सड़क इस तरह की है कि जैसे घर के अंदर बनी हुई सड़क हो। मैं यहां बहुत आसानी से घूम सकता हूं, विद्यार्थी मिलते हैं तो अच्छा लगता है। लिखे जा रहे उपन्यास के बारे में नहीं कह सकता किसी भी लिखी जा रही बात के बारे में क्या लिखा गया, कितना लिखा गया यह बता पाना मुश्किल है क्योंकि लिखा हुआ बदल भी जाता है, लेकिन पूर्वग्रह में जो अंश मैंने भेजा है उसमें जीवन की ऐसी स्थितियां हैं कि एक उम्र हो जाने के बाद जो आदमी की अपनी निर्भरता अपने से हटकर किसी दूसरे की तरफ बढ़ने लग जाती है यह निर्भरता एक लाठी की तरह होने लगती है क्योंकि ये निर्भरता करीब-करीब लाठी है। खत्म होती जिंदगी में बचे हुए जो वर्ष हैं, जबकि ये लाठी इस तरह की है कि किसी दूसरे की लाठी है जो कभी भी छीनी जा सकती है उधार की लाठी है, मुश्किल की लाठी है। इसका उतना सहारा तो होता नहीं और ये सहारा कब चला जाए...। उसमें जो खत्म होती जिंदगी में बचे हुए कुछ वर्ष हैं ये जो दम्पत्ति हैं इस बचे हुए वर्ष को इस तरह बदलकर जीना चाहते हैं कि जैसे मर जाने के बाद में वो स्वर्ग में पहुंचकर जी रहे हों तो मतलब बचे हुए वर्ष को एक स्वर्ग की तरह, कि ये पृथ्वी ही हमारा स्वर्ग है जिसे हमको छोड़कर के चले जाना है। उस स्वर्ग के बारे में वो बिल्कुल नहीं जानते। न उनको जानने की इस तरह की कोई इच्छा है। न उस स्वर्ग तक पहुंचने की उनकी अपनी कोई कोशिश है। वे चाहते हैं कि इसी बचे हुए जीवन को इसी आसपास के साथ में इन्हीं लोगों के बीच में जिसके साथ में उसका जीवन बीता और बहुत कठिन जीवन बीता, किस तरह और कैसे जिया जाए कि स्वर्ग की तरह लगे। वह इस तरह महसूस करना चाहता है। ये दम्पत्ति जो है अपने को बदलने के लिए एक विपरीत स्थिति पैदा करते हैं अपने जीवन बदल देने की कोशिश करते हैं ताकि वे एक नए तरीके के साथ अपने जीवन को जिएं जिससे उनको लगे कि उनकी जिंदगी की सार्थकता बनी हुई है।

(प्रस्तुति : हरप्रीत कौर)

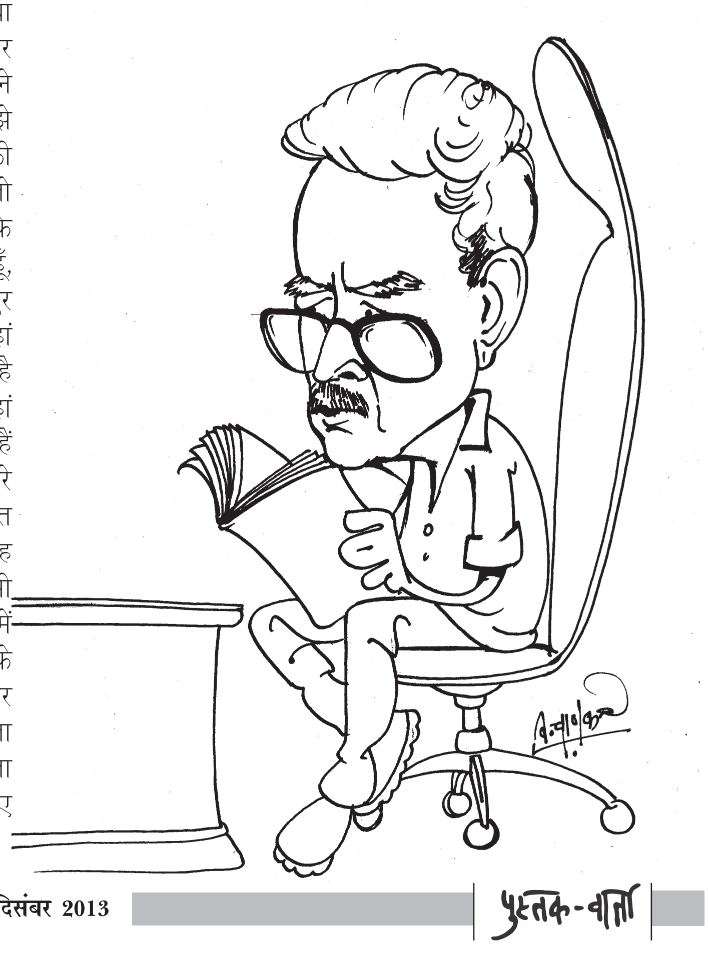

हिंदी समाज की विडंबना

प्रकाशन चक्रव्यूह

■ **प्रांजल धर**

यह लगभग असम्भव है कि हिंदी के दो-चार लेखक-लेखिकाएँ किसी जगह दस-बीस मिनट बैठकर बातें करें और प्रकाशन की दुनिया पर या प्रकाशकों की अनियमितताओं और बदमाशियों पर चर्चा न हो। किसी की शिकायत रॉयल्टी को लेकर होती है, किसी की प्रकाशन के व्यवसाय, उसकी नैतिकता और उसके दुष्चक्र पर, तो किसी की इस बात को लेकर कि किस तरह अमुक प्रकाशक ने उसकी किताब को छपने की पाइपलाइन में महीनों या वर्षों से लटकाए रखा है। जैसा कि हम सभी जानते हैं, इस तरह 'लटकाने' की अज्ञातनामा वज़हें अनेक हुआ करती हैं। कई बार निष्कर्ष यह होता है कि प्रकाशक बहुत चालाक और धूर्त होते हैं और कई बार यह कि लेखक भी अपनी इस हालत के लिए कुछ कम जिम्मेदार नहीं हैं।

इसे हिंदी भाषी समाज की एक विडम्बना ही कहेंगे कि जो हिंदी हमारे देश की लगभग आधी आबादी की लिखने और बोलने की भाषा है, उसी भाषा के लेखक ढेर सारी मेहनत-मशक्कत से लिखने और अनवरत लिखते रहने के बावजूद कोई सम्मानजनक कमाई नहीं कर पाते। कमाई तो दूर, अगर साल भर की रॉयल्टी से किसी हिंदी-लेखक को कुछ हफ्तों तक घर-गृहस्थी का खर्च भी चलाना हो तो शायद ही ऐसा सम्भव हो पाएगा! हाँ, कुछ चुनिंदा नाम ऐसे ज़रूर हो सकते हैं जो अपनी रॉयल्टी का चेक देखकर खुश होते हों। सवाल उठता है कि लेखकों की इस हाँड़तोड़ मेहनत की मलाई आखिर किसके खाते में जाती है? और क्यों जाती है? दूसरी ओर प्रकाशक यह कहकर पल्ला झाड़ लेते हैं कि आज हिंदी की किताबें पढ़ता ही कौन है? सोचने वाली बात है कि जब पाठक ही नहीं मौजूद हैं तो फिर कुछ किताबें किस शॉर्टकट के माध्यम से छपते ही बेस्टसेलर हो जाती हैं? अगर आप प्रकाशकों के साथ अक्सर पार्टियों वगैरह में बैठकर रसरंजन कर लिया करते हैं तो इस बात की उम्मीद की जा सकती है कि आपकी कृतियाँ 'अमर' भी हो सकती हैं। आखिर ऐसी कौन-सी परिस्थितियाँ हैं जिनके चलते दोयम दर्जे का लेखन करने वाले फेसबुकिया लोग 'क्लासिक' किस्म की पुस्तकें लिख या रच रहे हैं और तमाम क्लासिक रचनाएँ हमें पढ़ने को ही नहीं मिल पातीं? आज भी जब हमें किसी क्लासिक कृति की तलाश होती है तो हमारी आशा फुटपाथ के किनारे ही मंजिल ढूँढ़ती है। प्रकाशकों और समस्त अकादमिक जगत पर जितना अनावश्यक आतंक हमारे प्रोफेसरों का है, उसका सीधा प्रभाव हमारे साहित्य की गुणवत्ता पर पड़ रहा है, चर्चा में बने रहने की क्षमता पर पड़ रहा है और उस नाजुक संतुलन पर पड़ रहा है जहाँ किताबों को कॉस्मेटिक उत्पादों की तरह एक प्रोडक्ट भर मान लिया जाने लगा है। प्राइस, प्रोडक्ट, प्लेस और प्रमोशन के इस 'हाइप' से असली साहित्य गायब-सा होता जा रहा है और यह बेहद दुर्भाग्यपूर्ण है। इस पर तुर्रा यह कि चाहे प्रकाशक हों या लेखक, प्रोफेसर हों या विद्यार्थी, लेखकीय और साहित्यिक लोकतंत्र का ढोल पीटते नहीं अघाते।

दरअसल प्रकाशन व्यवसाय और उसके चक्रव्यूह की सच्चाई इतने अधिक विरोधी तथ्यों और जटिलताओं से उलझी हुई है कि निष्कर्षात्मक रूप से कुछ भी कहना जल्दबाजी हो सकती है। प्रकाशक तो वह है जो लेखक से पाण्डुलिपि को लेकर विद्वानों से उसकी समीक्षा करवाए, गुणवत्ता की कसौटी पर उसे परखे या परखवाए और तब उस पाण्डुलिपि को मुद्रण या प्रकाशन के लिए चयनित करे। वास्तव में इसके ज़रिये यह भी सुनिश्चित हो जाता है कि पाण्डुलिपि की सामग्री को कहीं से चुराया तो नहीं गया है। इसके बाद लोकार्पण समारोहों, निष्पक्ष समीक्षाओं और विभिन्न पुस्तक मेलों के ज़रिये वह उस पुस्तक तक पाठकों की पहुँच को सुनिश्चित करे। पूछा जा सकता है कि आज कितने प्रकाशक ऐसे हैं जो इन मानकों पर खरे उतर सकने की स्थिति में हैं? आज प्रकाशन के लिए पुस्तकों का अन्तिम चयन तो किन्हीं 'और' ही आधारों पर किया जाने लगा है और इस फैशन को तथाकथित न्यू मीडिया यानी इण्टरनेट और फेसबुक से खूब बढ़ावा भी मिल रहा है पेरिस के पल-पल बदलते कपड़ों के फैशन की तरह। हिन्दी प्रकाशकों की सूची आए दिन नए-नए नामों के जुड़ते जाने से भले ही लम्बी होती जा रही हो लेकिन इन प्रकाशकों के बीच, नव-उदारवाद की भाषा में कहें तो, मुक्त प्रतिस्पर्धा की हालत बिल्कुल भी नहीं है। दो-चार प्रकाशकों का ही वर्चस्व या एकाधिकार है, पुस्तक विमोचन से लेकर पुस्तक मेलों तक में इन्हीं की तूती बोलती है। हिन्दी के तमाम मठों और मठाधीशों की चाभी भी इन्हीं के पास है, यही इन मठाधीशों की 'साहित्यिक' यात्राओं के आयोजक-प्रायोजक हैं और मिल्टन फ्रीडमैन की बाजारी शक्तियों वाली दुनिया में ये उन बड़ी मछलियों की तरह ही व्यवहार करते हैं, जहाँ बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को निगल जाती हैं।

हिन्दी प्रकाशकों के बारे में यह सर्वविदित है कि वे अपनी पुस्तकों के दाम लागत से पाँच-छह गुने तक अधिक रखते हैं। इसका असर यह होता है कि पाठक प्रायः इन पुस्तकों को खरीदने से वंचित रह जाते हैं और सरकारी पुस्तकालयों या सांस्थानिक खरीद निर्णायकता हासिल कर लेती है। ऐसी निर्णायकता का तात्पर्य है योग्यता पर अयोग्यता का वर्चस्व, लेखकीय वजहों पर गैर-लेखकीय वजहों का प्रभुत्व तथा साधारण पाठक और लेखक के बीच प्रकाशन का अनधिकृत हस्तक्षेप। इस हस्तक्षेप की बहु-आयामिता से अकादमिक जगत और पुरस्कारों की राजनीति भी प्रभावित होती है।

प्रतिष्ठित युवा मीडिया विश्लेषक।
दिल्ली में रहते हैं।
संपर्क : 09990665881

आज प्रकाशन के दुष्चक्र से किताबों का बाजार त्रस्त-सा नजर आता है और इस बाजार की पारदर्शिता भी कम हो रही है।

पर ऐसा नहीं है कि ऐसी विचित्र स्थितियाँ पहली बार उत्पन्न हुई हैं। पहले भी लेखकों ने इस तरह की परेशानियों का सामना किया था और शायद इसीलिए दिनकर समेत अनेक लेखकों ने अपने प्रकाशन गृह भी खोले। लेकिन व्यावसायिकता और सृजनात्मकता एक साथ कैसे निभें भला! इनमें से एक पहलू तर्क-बाहुल्य से पीड़ित होने लगता है तो दूसरा भावनाधिक्य से। आज लेखकों की तमाम शिकायतें प्रूफ रीडिंग और सटीक मुद्रण को लेकर भी सामने आती हैं। पूछा जा सकता है कि कितने प्रकाशकों के पास सक्षम पूर्णकालिक प्रूफ रीडर हैं जो वर्तनी और शब्दों के सटीक प्रयोग से बाकायदा वाकिफ हों? लेखकों को चाहिए तो यह कि जो प्रकाशक पारदर्शिता में कमी रखता हो या उसकी पुस्तकों की प्रतियों को समीक्षार्थ उचित पत्र-पत्रिकाओं में न भेजता हो या लेखकों के बीच वैमनस्य, पक्षपात और भेदभाव को बढ़ावा देता हो, उसका मिलकर बहिष्कार करें। लेकिन यह तो बड़ी दूर की बात है। हालात तो इतने बदतर हो चुके हैं कि अब प्रकाशक साहित्यिक पुरस्कारों की ज्यूरी तक में घुस चुके हैं और अक्सर ऐसी खबरें भी आती रही हैं कि फलाँ प्रकाशक ने सन्तुलन को इस तरफ से उस तरफ कर दिया जिसकी वजह से अमुक पुरस्कार उनको न मिलकर, इनको मिल गया।

इस महत्वपूर्ण मुद्दे को देखने का नजरिया इतना सरलीकृत नहीं होना चाहिए कि मुद्रण यानी छपाई के मैदान में लेखक और प्रकाशक आमने-सामने हैं और किसी मल्लयुद्ध की तैयारी में रत हैं। जरूरत तो इस बात की है कि ये दोनों मिलकर एक ऐसी पुस्तक संस्कृति का विकास करने में अपना योगदान दें जहाँ साहित्यिक पुस्तकों को खरीदने और पढ़ने की स्वस्थ आदतें पैदा हों, जहाँ लोकप्रिय और गम्भीर साहित्य के साथ-साथ शिक्षाप्रद और मनोरंजक बाल-साहित्य की मजबूत धारा भी मौजूद हो। इनके आपसी सौहार्द्र और आपसी विश्वास से ही प्रकाशन जगत अपने दीर्घकालिक लक्ष्यों का संधान कर सकता है। इस सौहार्द्र की एक नजीर के रूप में उस घटना को लिया जा सकता है जब आज के एक चर्चित प्रकाशक पर गम्भीर आर्थिक संकट आने के समय प्रकृति के सुकुमार कवि सुमित्रानन्दन पन्त ने अपने ज्ञानपीठ पुरस्कार की समस्त राशि उस प्रकाशक को दे दी थी कि जाइये, प्रकाशन जारी रखिए। इसलिए क्योंकि प्रकाशन समाज, राजनीति और अर्थव्यवस्था समेत जीवन के हर जरूरी पहलू से जुड़ा महत्वपूर्ण व्यवसाय है। पर ध्यान रहे, यह महज व्यवसाय भर नहीं है। इस बात को समझना ही पड़ेगा वरना अभी ज्यादा दिन नहीं बीते जब गांधीजी की पुस्तक 'हिन्द स्वराज' के कॉपीराइट के सन्दर्भ में यह विवाद उठा था कि इसके प्रकाशन का अधिकार किसी निजी हाथ में क्यों जा रहा है? इस विवाद के पीछे मूल चिन्ता इस पुस्तक के दाम के बढ़ जाने की आशंकाओं को लेकर थी। क्या यह बेहतर न होगा कि इस व्यवसाय को इस प्रकार ढाला जाए जिससे ऐसे विवाद और ऐसी आशंकाएँ पैदा ही न हों ?

समीक्षा

छोटा टाइगर, बड़ा हौसला

■ **अनंत विजय**

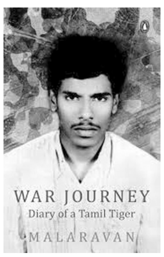

वॉर जर्नी, डायरी ऑफ अ तमिल टाइगर
मलरवन
अनुवाद-एन मालथी
पेंग्विन बुक्स
दिल्ली
मूल्य - 250 /-

युवा समीक्षक। लोकप्रिय स्तंभ लेखक। दिल्ली के एक समाचार चैनल में महत्वपूर्ण जिम्मेदारी।
संपर्क : 09871697248

विश्व साहित्य में युद्ध पर कई उपन्यास लिखे गए जिन्होंने लोकप्रियता के सारे रिकॉर्ड तोड़ दिए और अपने लिखे जाने के दशकों बाद भी उन्हें अब भी पाठकों का प्यार हासिल है। अंग्रेजी के अलावा अन्य विदेशी भाषाओं में वॉर फिक्शन या मिलिट्री फिक्शन के नाम से बकायदा ऐसे उपन्यासों का एक वर्गीकरण है। युद्ध उपन्यास सामान्यतया दो देशों के बीच युद्ध या फिर किसी देश में जारी समुदाय विशेष की सरकार के खिलाफ लड़ाई की पृष्ठभूमि या उनके संघर्षों पर लिखे जाते रहे हैं। हालांकि विश्व साहित्य में युद्ध उपन्यास या फिर युद्ध संबंधी लेखन की जड़ें तो प्राचीनकालीन महाकाव्य तक में देखी जा सकती हैं। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी में आकर युद्ध लेखन एक विधा के तौर पर स्थापित होने लगा। वाटरलू युद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखा चार्टर हाउस ऑफ पारमा और लियो टॉलस्टाय का वॉर एंड पीस और स्टीवन क्रेन का द रेड बैज ऑफ करेज ने युद्ध लेखन को पूरे तौर पर स्थापित कर दिया। इन उपन्यासों में युद्ध की विभीषिकाओं के अलावा उस दौरान की चालाकियों, यातना, उत्पीड़न, वीरता के साथ-साथ सैनिकों और सेनापतियों की कायरता के किस्से भी हैं। वास्तविक घटनाओं का वर्णन होने की वजह से पाठकों को उसकी प्रामाणिकता बांधे रखती है, इस एहसास के साथ कि वो इतिहास के विशेष कालखंड और उस दौरान घट रही घटनाओं को जान रहे हैं। प्रथम विश्व युद्ध के बाद युद्ध संबंधित फिक्शन और नॉन फिक्शन किताबों की बाढ़ आ गई थी। इस तरह के उपन्यास और किताबें आक्रमण कारी और युद्ध का दंश झेलने को मजबूर किए गए देशों के लेखकों ने लिखे। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान और उसके बाद लिखे उपन्यासों और किताबों में युद्ध की बर्बरता के अलावा कई उपन्यास ऐसे आए जिनमें युद्ध के दौरान लोगों के मनोविज्ञान और उनके दिलो दिमाग पर पड़नेवाले असर का विश्लेषण भी किया गया। प्रथम विश्व युद्ध खत्म होने के बाद जब 1920 में दोनों तरफ के देश व्यवस्थित होने लगे तो 1920 के उतरार्द्ध में एक ऐसा दौर आया जब युद्ध में शामिल हर कोई किताब लिखने की सोचने लगा। कुछ तो खुद लिखने के काबिल थे और कुछ लोगों को पैसा कमाने के लिए छद्म नाम से लिखने वाले लेखक मिले। उस दौर में इतनी किताबें आई कि उसको वॉर बुक बूम के दौर से जाना जाने लगा। तुलनात्मक अध्ययन के लिए उस वक्त कई नई किताबों के साथ-साथ युद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखी पुरानी किताबों की भी जबरदस्त मांग पैदा हो गई थी। अभी हाल में लिबरेशन टाइगर्स ऑफ तमिल ईलम के सैनिक मलरवन की पतली सी डायरी प्रकाशित हुई है- वॉर जर्नी, डायरी ऑफ अ तमिल टाइगर। इस किताब का तमिल से अंग्रेजी अनुवाद

न्यूजीलैंड की रहनेवाली तमिल मूल की एन मालथी ने किया है। मालथी का दावा है कि मलरवन की यह डायरी उसे तमिल ईलम की आखिरी लड़ाई के वक्त 2007 में वन्नी के एक पुस्तकालय से मिली। उसका दावा है कि ईलम की लड़ाई लड़ रहे ढ़ेर सारे सैनिकों ने कविताओं और नोट्स की शक्ल में अपने अनुभवों को लिखा था जो वन्नी के पुस्तकालय में थे। पुस्तकालय के अधिकारियों का मानना था कि मलरवन की तमिल में लिखी मूल डायरी उसके साथ संघर्ष में शामिल गुरिल्ला साथियों को नवंबर 1992 में उसकी मौत के बाद उसके सामान से मिली थी। साथी सैनिकों ने मलरवन के अन्य सामान के साथ इस डायरी को भी टाइगर्स के वरिष्ठ अफसरों को सौंप दिया था। इस वॉर डायरी में तकरीबन अठारह साल के मलरवन ने श्रीलंका की सेना से लोहा लेने के दौरान के अपने अनुभवों को लिखा था जो पहली बार तमिल में 1993 में 'पूर उला' के नाम से छपी थी। मलरवन का परिवार लेखकों का परिवार था और माना जाता है कि इस वजह से उसने युद्ध के मैदान के अपने अनुभवों को बेहतर तरीके से डायरी की शक्ल दी है। किताब की शक्ल में लिखे गए 18 साल के मलरवन की डायरी ने अनुवादक मालथी को बेहद प्रभावित किया। इस वजह से वो उसके अनुवाद के लिए प्रेरित हुईं। मलरवन जब 18 साल का था तभी उसने लिबरेशन टाइगर्स ऑफ तमिल ईलम का दामन थाम लिया था और दो साल तक संघर्ष के बाद मारा गया था । इस बात के पर्याप्त संकेत हैं कि वो श्रीलंकाई सेना के लगातार होने वाले हमले से तंग था। लंकाई सैनिक बहुधा स्कूल और कॉलेज को निशाना बनाते थे जिस वजह से मलरवन की पढ़ाई में बाधा पहुंचती थी। खिन्न होकर उसने यह तंय कर लिया कि उसे तमिल ईलम की लड़ाई में शामिल होना है।

मलरवन की इस डायरी की शुरुआत मलरवन के दोस्तों की एक ट्रैक्टर यात्रा से शुरू होती है जिसमें वो अपने साथियों के साथ चहलबाजी करता हुआ चलता है। यह यात्रा श्रीलंकाई सैनिकों से लड़ाई के पहले की है। हम कह सकते हैं कि यह मानकुलम की लड़ाई के दौरान लिखी गई डायरी है। नब्बे के दशक में इस क्षेत्र को लेकर तमिल ईलम के लड़ाकुओं और लंकाई सेना के बीच कई बार जमकर लड़ाइयां हुई। मलरवन ने अपनी डायरी में कई दिल को छू लेनेवाले प्रसंगों को लिखा है—एक बार जब उसकी टुकड़ी लड़ाई के लिए कहीं जा रही थी तो काफिले के पीछे सफेद साड़ी पहने एक बुजुर्ग महिला दौड़ रही थी। उसको देखकर ईलम के सिपाहियों ने अपने काफिले को रोक लिया। उसके बाद उस महिला ने सभी सैनिकों के सर पर पवित्र भस्म का तिलक लगाया और उनके गालों पर प्यार से चुंबन लिया। हिंदू तमिलों के लिए पवित्र भस्म का बेहद महत्व है। उस बूढ़ी महिला ने तिलक लगाने के बाद सभी सैनिकों से कहा कि तुम लोग विजयी होकर वापस आना। मैं अपनी झोपड़ी में तुम लोगों का इंतजार कर रही हूं। जब सैनिकों ने एक स्वर में उसे भरोसा दिलाया कि वो बगैर जीते नहीं लौटेंगे तो उसने अपने थैले से मीठा चावल निकालकर कइयों के मुंह में डाला। मलरवन के मुताबिक तमिल ईलम के लिए लड़ रहे लोगों के लिए स्थानीय लोगों का ये प्यार ही उनकी ताकत था। इसके अलावा मलरवन ने अपनी डायरी में समाज के अलग-अलग क्षेत्रों में काम कर रहे लोगों और विभिन्न उम्र के पुरुषों और महिलाओं के सहयोग की चर्चा भी की है।

इस छोटी सी किताब से लिबरेशन टाइगर्स ऑफ तमिल ईलम के सैनिकों, जिन्हें पुराली भी कहा जाता है, के संघर्ष की एक तस्वीर बनती है। इतनी कम उम्र में जाफना के छात्र संयोजक बने मलरवन अपनी मौत को लेकर थोड़ा भी चिंतित नहीं है। बीस साल की उम्र में एक संघर्ष में मलरवन की मौत हो जाती है लेकिन इतनी छोटी सी उम्र में मौत के बारे में लिखना यह दिखाता है कि संघर्ष में शामिल हर छोटे बड़े को यह मालूम है कि उसकी मौत निश्चित है। बावजूद इसके वो ना केवल संघर्ष जारी रखता है बल्कि अपने विचारों और घटनाओं को लिखता भी जाता है। इस किताब का महत्व इस बात को लेकर ही है।

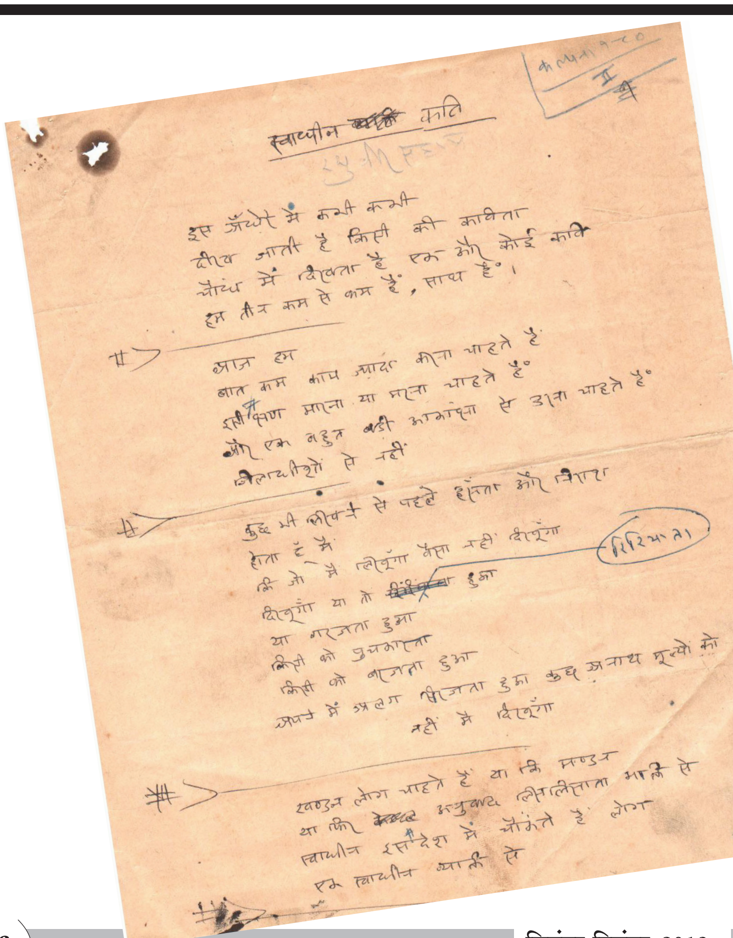

रघुवीर सहाय की हस्तलिखित यह कविता स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

समीक्षा

प्रवासी महिला रचनाकारों के पुरुष पात्र

प्रवासी लेखन

■ विजय शर्मा

भारत में प्रवास की एक लंबी परंपरा रही है। आज भूमंडलीकरण के दौर में जब संचार क्रान्ति के कारण दुनिया सिमट कर एक गाँव का रूप धारण कर चुकी है, सरकार भी अपनी नीति बदल चुकी है। आज भारत में दोहरी नागरिकता का प्रावधान उपलब्ध है। इस नीति के तहत बहुत सारे भारतीय जिन्होंने किसी अन्य देश की राष्ट्रीयता ले ली है, वे पुनः भारत की नागरिकता भी ग्रहण कर सकते हैं। बहुत से लोगों ने ऐसा किया भी है। हाँ, जो लोग कामकाज के सिलसिले में खाड़ी के देशों में गए हैं उनके लिए नियम भिन्न हैं। उन्हें कभी भी वहाँ की नागरिकता प्राप्त नहीं होती है। वे वहाँ बसने के लिए जमीन भी नहीं खरीद सकते हैं। परिवार ले जाने की इजाजत भी नियमों के तहत ही मिलती है। इसलिए वे कितने भी दिन वहाँ रहें, रहते वे भारतीय नागरिक ही हैं। वे सदैव अस्थाई प्रवासी का जीवन व्यतीत करते हैं। एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान में जाने के लिए अंग्रेजी में 'माइग्रेशन' शब्द का प्रयोग होता है। जो हिन्दी के प्रवास का ही पर्याय है।

प्रवासी शब्द के लिए अंग्रेजी में 'डायस्पोरा' शब्द का भी प्रयोग होता है। इस शब्द की उत्पत्ति यूनानी शब्द से हुई है, एक समय जिसका अर्थ था 'फैलाना' या 'बीज छींटना'। डायस्पोरा शब्द का प्रयोग खास तौर पर जन्मभूमि से गहन लगाव, अक्सर आदर्शवादी लगाव तथा समूह चेतना, सामूहिक जाति अस्मिता आदि को दिखाने के लिए उपयोग किया जाता है। प्रवास का असर वहाँ रचे जा रहे साहित्य पर भी पड़ता है, क्योंकि संदर्भ बदल जाते हैं। सामाजिक संघर्ष का रूप बदलने से संवेदनाएँ भी प्रभावित होती हैं। प्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह भी अपनी पुस्तक 'कहानीः नई कहानी' में कहते हैं, "संवेदनाओं और अनुभूतियों का चित्रण हवा में नहीं होता। संवेदनाएँ किसी मूर्त मानव : व्यक्ति का आधार लेकर खड़ी होती हैं और एक निश्चित संदर्भ में पैदा होती हैं। यह संदर्भ चाहे सामाजिक हो, चाहे प्राकृतिक। सामजिक संघर्ष के सिलसिले में ही व्यक्ति की संवेदनाएँ छिटकती हैं। व्यक्ति के सामाजिक संघर्ष का रूप बदलता है तो संवेदनाओं के ढ़ाँचे में भी परिवर्तन आता है। नई संवेदनाएँ व्यक्ति और उसके समाज के नवीन संघर्ष की सूचक होती हैं।" इसलिए प्रवासी साहित्य साहित्य होते हुए भी तनिक भिन्न होता है।

पर सुविधा की दृष्टि से प्रवासी साहित्य की विशेषताओं को जानने-समझने के लिए प्रवासी शब्द का प्रयोग करना आवश्यक है। 'हंस' के अप्रैल 2011 के अपने संपादकीय में राजेंद्र यादव लिखते हैं, "साहित्य, साहित्य होता है और उसे बांटना गलत है, मगर चीजों को समझने या विश्लेषण के लिए समग्र को तोड़ना ही पड़ता है। साहित्य में भी यही होता है। दलित लेखन, स्त्री लेखन की तरह प्रवासी लेखन की भी धारा है, उसकी अपनी विशिष्टता को समझने के लिए शायद यह जरूरी भी है।"

जब हम भारतीय प्रवासी लेखन की बात करते हैं तो सबसे पहले हमारा ध्यान सलमान रुश्दी की ओर जाता है। निर्मल वर्मा का प्रवासी साहित्य हिन्दी साहित्य की धरोहर है। मैंने नहीं पढ़ा है मगर भारत की अन्य भाषाओं में भी अवश्य प्रवासी साहित्य उपलब्ध है। यहाँ मात्र हिन्दी और अंग्रेजी की कुछ समकालीन प्रवासी रचनाओं (उपन्यास विधा) को लिया गया है। आज प्रवासी महिला रचनाकारों की एक लंबी सूची है। उषा प्रियंवदा, कमला मार्कंडेय, किरन देसाई, चित्रा बैनर्जी दिवाकर्णी, सुषम बेदी, भारती मुखर्जी, मीना एलेक्जेंडर, झुम्पा लाहिरी, अर्चना पैन्यूली आदि प्रसिद्ध प्रवासी स्त्री उपन्यासकार हैं। इस आलेख में किरन देसाई का 'दि इनहेरिटेंस ऑफ लॉस', सुषम बेदी का 'मैंने नाता तोड़ा' तथा अर्चना पैन्यूली का 'वेयर डू आई बिलॉन्ग' तथा चित्रा बनर्जी दिवाकर्णी के 'क्वीन ऑफ ड्रीम्स' में पुरुष पात्रों को जानने-समझने का प्रयास किया गया है।

एक लम्बे समय से अमेरिका में रह रही सुषम बेदी का 'मैंने नाता तोड़ा' प्रारंभ से अंत तक एक ऐसी युवती रितु की रुदाली है जिसके साथ किशोरावस्था में बलात्कार की गर्हित दुर्घटना हुई है। रितु के पिता का तबादला ऐसे स्थान पर हुआ है जहाँ स्कूल-कॉलेज की सुविधा नहीं है। भाई को हॉस्टल में डाल दिया जाता है। रितु जिद कर उसी शहर में पिता के फुफेरे भाई के यहाँ रह स्कूल की पढ़ाई जारी रखती है, साथ ही अपना रेडियो कार्यक्रम भी। पिता अपने इस भाई को बहुत पसंद नहीं करते थे। भाई तनिक धनी था। साथ ही उन्हें उसका व्यवहार भी बहुत अच्छा नहीं लगता था।

जल्द ही अंकल का असली रूप सामने आता है। वे रितु का रेडियो स्टेशन जाना बंद कर देते हैं। उन्हें उसका कहीं आना-जाना पसंद नहीं है। कार सिखाते समय वे रितु को स्पर्श करते हैं। शर्म से वह किसी से कुछ नहीं कह पाती है। शर्म एक बहुत नकारात्मक और दर्दनाक स्थिति है। यह विचारों में भ्रम उत्पन्न कर और संप्रेषण को बाधित कर व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। रितु को संशय होने लगता है कि अंकल वास्तव में ऐसा कर रहें हैं या यह केवल उसकी कल्पना है। पीड़ित व्यक्ति शर्म अनुभव करता है जबकि अनाचारी को शर्म आनी चाहिए। एक दिन अपने स्टोर में शटर गिराकर अंकल रितु का बलात्कार करता है। चौदह साल की रितु खुद को बचा नहीं पाती है। रितु के कहने पर अंकल उसके पिता को बुलाकर उसके बदचलन होने और ऐसी लड़की को अपने यहाँ रखने में असमर्थता जताते हुए वापस भेज देता है। परिवार में उसके लौटने का क्या कारण बताया गया है, रितु केवल अनुमान लगाती है।

उपन्यास में कई पुरुष पात्र हैं। रितु के पिता, उसका जुड़वाँ भाई अजय, पिता के चचेरे भाई रितु के अंकल और रितु का प्रोफेसर-प्रेमी-पति अनिरुद्ध। पिता परंपरावादी सोच

मैंने नाता तोड़ा
सुषम बेदी
भारतीय ज्ञानपीठ
मूल्य - 240/
दि इनहेरिटेंस ऑफ लॉस
किरन देसाई
पेंगुइन बुक पब्लिकेशन
नई दिल्ली
वेयर डू आई बिलांग
अर्चना पैन्यूली

डायस्पोरा और विदेशी साहित्यिक परिवेश पर गहरी पकड़। जमशेदपुर में रहती हैं। संपर्क : 09430381718

के व्यक्ति हैं जिन्हें रितु में कोई गुण नहीं दीखता है जबकि बेटे में वे तमाम गुण देखते हैं। मेधावी बेटे को हॉस्टल में रख कर पढ़ाते हैं जबकि रितु को सलाह दी जाती है कि वह घर पर रह कर पढ़े और प्राइवेट बोर्ड की परीक्षा दे। रितु की जिद के चलते वे उसे अपने फुफेरे भाई के यहाँ छोड़ते हैं जहाँ उसके साथ अंकल बलात्कार करता है। पिता रितु को सदैव बेवकूफ, अपनी जिम्मेदारी न संभालने वाली मानते हैं। जब उन्हें पता चलता है कि अनिरुद्ध से वह मिलती-जुलती है तो वे कहते हैं,"तुझे कॉलेज पढ़ने भेजा था या इश्क लड़ाने। कुछ भेजे में तेरे अँटता भी है या कि खाली का खाली ही रहेगा। कानपुर में भी यही किया तूने, अब दिल्ली में भी यही हाल। तू निकम्मी की निकम्मी ही रहेगी'', जबकि अनिरुद्ध ने उनसे मिल कर रितु का हाथ माँगा था। उन्हें अपनी तीन बेटियों के दहेज की चिंता है। बाद में जब रितु अनिरुद्ध के साथ विदेश में है और पिता की एक दुर्घटना में मृत्यु हो जाती है। रितु को उनसे कितनी शिकायतें थी, कितना गुस्सा था मगर वह कभी कुछ कह नहीं पाई अब उसे लगता है कि उसे ताजिंदगी यह बोझ ढोना होगा।

उपन्यास में अजय एक महत्वपूर्ण पात्र है। वह पढ़ने-लिखने में तेज है, देशभक्त है, सेना में नौकरी करता है और शहीद होता है। वह रितु और अनिरुद्ध के रिश्ते के लिए पिता को राजी करवाता है। रितु के जीवन में उसके जुड़वाँ भाई अजय का महत्वपूर्ण स्थान है। बचपन में दोनों का बहुत सारा जीवन साझा था, हालाँकि लड़का-लड़की होने के कारण भिन्न भी था। उम्र बढ़ने के साथ-साथ बहुत कुछ बदल जाता है। रितु सदैव उसे अपना अंग मानती है। अजय भी उससे खुल कर कुछ नहीं पूछ पाता है। उसे केवल अंदेशा है कि रितु के साथ कुछ अप्रिय, बहुत भयानक घटित हुआ है। रितु उसे कुछ नहीं बता पाती है। जुड़वाँ भाई-बहन के चित्रण के मामले में अरुन्धति राय बाजी मार लेती हैं। उनके उपन्यास 'द गॉड ऑफ स्मॉल थिंग्स' में भी एस्था और राहेल जुड़वाँ भाई-बहन हैं। बचपन में भाई के साथ दुर्घटना होती है, बहन को पता चलता है। दोनों में इतना एकात्म है कि एक रसगुल्ला खाता है, दूसरे को उसका स्वाद और मजा आता है। एक का स्वप्न दूसरे को दीखता है। एक की तकलीफ ज्यों-की-त्यों दूसरे की होती है। सुषमा बेदी ने केवल रितु को केंद्र में रखा है। रितु को भाई से शिकायत है कि वह उसकी जरूरत के समय उपलब्ध नहीं था। बाद में उसी शहर में तबादला होने पर भी भाई कुछ करता नजर नहीं आता है। वह परम्परागत भाई की भूमिका का निर्वाह करता है, कभी उस सीमा के पार नहीं जाता है, कभी रितु से बैठ कर उसके संग हुए हादसे की बात नहीं करता है।

तीसरा प्रमुख पात्र अनिरुद्ध परम्परागत भूमिका के पार जाता है। वह एक मेंटर, एक गाइड के रूप में आता है। अनिरुद्ध एक प्रोफेसर के रूप में रितु के जीवन में दाखिल होता है और धीरे-धीरे उसके जीवन का अभिन्न हिस्सा बन जाता है। अनिरुद्ध बहुत संवेदनशील, समझदार, सहायक युवक है। वह न केवल रितु पर विश्वास करता है वरन उसकी क्षमताओं को पहचान कर उनके विकास में उसकी सहायता करता है। उसे आर्थिक रूप से स्वावलंबी होने, लिखने-पढ़ने की ओर प्रवृत्त करता था। वह रितु से प्रेम करता है, विदेश पढ़ने जाकर भी पत्रों के द्वारा उसका हौसला बनाए रखता है। पति बन कर भी वह अन्य भारतीय पतियों से भिन्न है। उसकी सोच और उसका व्यवहार प्रगतिशील है। विवाह के बाद रितु के साथ कभी जबरदस्ती अपने अधिकार की माँग नहीं करता है। अनिरुद्ध रिश्तों में हारमनी का कायल है। उसे शुरु से मालूम है कि रितु उससे कुछ कहना चाहती है मगर वह तब तक धैर्य बनाए रखता है जब तक कि रितु स्वयं उसे सब कुछ नहीं बताती है। अनिरुद्ध के रूप में सुषमा बेदी ने एक आदर्श पति-प्रेमी का चित्रण किया है।

किरन देसाई ने 14 साल की उम्र में भारत छोड़ा, पहले वे इंग्लैंड गईं बाद में अमेरिका में बस गई। अपने उपन्यास 'दि इनहेरिटेंस ऑफ लॉस' में ये उपनिवेश काल, उत्तर उपनिवेश काल, भूमंडलीकरण, कट्टरवाद, भयंकर दमन-अत्याचार को चित्रित करती हैं। उपन्यास की कहानी फ्लैशबैक में चलती है। कलिंगपोंग में एक बड़े से बँगले 'चो ओयु' में एक सेवानिवृत्त जज जेमूभाई पोपटलाल पटेल अपने रसोइए पन्नालाल और अपनी जीवनसाथी उच्चजाति की एक कुतिया मट के साथ रह रहे हैं। अंर्तमुखी जेमूभाई कंचनजंघा की खूबसूरती, रहस्यमय और दैविक वातावरण से पूरी तरह कटे हुए अतीतजीवी हैं, "लाइक अदर एल्डरली पीपुल, ही सीम्ड नॉट टू हैव ट्रैवल्ड फॉरवर्ड इन टाइम, वट फॉर बैक।" बँगला देखरेख के अभाव में उन्हीं की तरह खंडहर और बगीचा उजाड़ है। फर्नीचर दीमक और घर चूहों का अड्डा है। जेमूभाई अंग्रेजों के समय के जज हैं और आज भी उसी सभ्यता-संस्कृति से चिपके हुए हैं। अंग्रेज चले गए हैं मगर अपनी दुम के रूप में जेमूभाई जैसे लोग छोड़ गए हैं। उनकी जीवन शैली भंग होती है जब उनकी अनाथ युवा नतिनी साई कॉन्वेंट से उनके पास रहने आती है। उसके माता-पिता रूस में एक बस दुर्घटना में मर चुके हैं। जेमू ने कभी अपनी बेटी से कोई नाता नहीं रखा था।

नाना-नतिनी एक दूसरे से घृणा करते हैं। असल में जेमूभाई दुनिया में सबसे घृणा करते हैं। यह उनका हीनभाव है। एक गरीब किसान परिवार में जन्में जेमूभाई के पिता ने अपनी समस्त जमा-पूँजी लगा कर, अपनी बेटियों की उपेक्षा करके उन्हें पढ़ाया और एक मोटी रकम दहेज में लेकर उनकी शादी एक लड़की से करवा दी थी। दहेज की रकम उनके इंग्लैंड जाकर पढ़ने के लिए उपयोग की गई। विवाह के एक महीने के भीतर वे कई वर्षों के लिए विदेश चले गए।

यह एक आत्मकेंद्रित पात्र है। परिस्थितिवश ऐसा बन गया है। जेमू जब विलायत पढ़ने गया था तब भारत पर अंग्रेजों का शासन था। उनके लिए भारतीय कीड़े-मकोड़ों से ज्यादा कुछ न थे। जेमू को उसकी क्लास के अन्य लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं उन्हें उसमें बदबू आती है। फलतः वह ब्रिटिश समाज में कभी घुलमिल नहीं पाता है, मगर सारी जिंदगी ब्रिटिश जीवन पद्धति को आदर्श मान कर अपनाए रहता है। दूसरी ओर उसका पालन-पोषण ऐसे किया गया है कि वह स्वयं को विशिष्ट मानता-जानता है। अतः भारत लौट कर उसे परिवार वाले तुच्छ और असंस्कृत नजर आते हैं। वह किसी भी तरह खुद को भारत और भारतीयों से जोड़ नहीं पाता है। नतीजतन वह समाज से कटता चला जाता है आत्मकेंद्रित और अतीतजीवी हो जाता है।

अर्चना पैन्यूली कई सालों से डेनमार्क में निवास कर रही हैं। ये अपनी रचनाओं में डेनमार्क की प्राकृतिक सुषमा और प्रवासी सामाजिक जीवन का चित्रण सफलतापूर्वक करती हैं। 'वेयर डू आई बिलांग' इनका दूसरा उपन्यास है। इसमें डेनमार्क में बसे एक भारतीय परिवार शर्मा परिवार की कहानी है। यह परिवार तीन पीढ़ियों से इस देश में रह रहा है तीसरी पीढ़ी रीना वही जन्मी-पली-बढ़ी है। रीना के नाना गोविन्द प्रकाश शांडिल्य, पिता निर्मल शर्मा परम्परागत भारतीय ब्राह्मण हैं। प्रवास में भी वे अपनी संस्कृति की रक्षा और प्रचार-प्रसार के लिए जाने जाते हैं। अपनी मर्यादा बनाए रखने के लिए अपनी बच्ची की भावनाओं तक से खेलने में गुरेज नहीं करते हैं। परिवार पूरी तरह से पितृसत्तात्मक है जहाँ रीना की माँ सुधा की कोई हैसियत नहीं है। जबकि वह अपने पति से अधिक पढ़ी है और उससे ज्यादा कमाती है। वह वही कहती-करती है जो उसके पिता-पति कहते-करते हैं। अपने और अपने बच्चों के भविष्य को सुरक्षित करने के लिए परिवार ने डेनमार्क की नागरिकता ले ली है। मगर भीतर से डेनमार्क की संस्कृति को हीन मानते हैं और पूरे तौर पर भारतीय बने रहने की जिद ठाने हुए हैं।

रीना को भारत से लौटते हुए एक युवक हरि कुमार मिलता है। हरि कुमार धर्म बदल कर ईसाई धर्म की शिक्षा लेने डेनमार्क आया है। रीना और हरि

की दोस्ती प्रेम में बदल जाती है जब इस बात का पता गोविंद और निर्मल को चलता है तो उनके पैर के नीचे की जमीन खिसक जाती है। वे पहले प्रेम से रीना और हरि को समझाते हैं फिर दूसरे उपाय करते हैं। गोविंद खुद बेहतर जिंदगी की तलाश में गैर कानूनी तरीके से इस देश में आकर बसे थे मगर हरि को वे खुदगर्ज, नीच और न जाने क्या-क्या समझते हैं। ये लोग किसी तरह सहन नहीं कर सकते हैं कि उनके परिवार की एक लड़की किसी गैर जाति-धर्म के लड़के से संबंध रखे। अपने प्रवास को भूल कर ये लोग रीना को हरि के विषय में समझाते हैं, "पश्चिमी देश उन्हें बहुत आकर्षित करते हैं। यहाँ के वैभव की कथा सुनकर वे यहाँ के मोह में इतना बँध जाते हैं कि यहाँ आने के लिए कोई भी हथकंडे अपना सकते हैं - गलत, गैरकानूनी तरीके..." निर्मल खुद शाखा चलाते हैं, उनके ढ़ेर सारे चेले-चपाटी हैं और एक दिन रीना की गैरहाजरी में बहला-फुसला कर हरि की हिन्दू धर्म में वापसी करवा देते हैं। मगर जब रीना को पता चलता है तो वह उसे दुत्कार देती है उसे लगता है कि उसके घर वालों का हरि के विषय में सही विचार है। हरि को वह भी मतलबी और ढुलमुल व्यवहार वाला समझती है। हरि का व्यक्तित्व मजबूत नहीं है। पहले वह ईसाई बनता है फिर हिन्दू बन जाता है मगर वह रीना को सच्चे मन से प्रेम करता है। उसके ठुकराने पर वापस भारत लौट जाता है। उसका भविष्य अधर में है।

रीना की जिंदगी में तीन पुरुष आते हैं। हरि को उसके पिता व नाना ने उससे दूर कर दिया। दक्षिण भारतीय राधेश से वह स्वयं दूर हो गई क्योंकि राधेश भले ही पढ़ा-लिखा, उच्च पदाधिकारी हो उसके ऊपर पूरे परिवार की जिम्मेदारी थी। जिसमें अपंग पिता, कठोर स्वभाव की माँ, परित्यक्ता बड़ी बहन, उसके बच्चे और एक छोटी बहन शामिल थे। तीसरे मार्टिन के बारे में उपन्यास ज्यादा कुछ नहीं बताता है, केवल यही बताता है कि वह एक डेनिश है और शादी के बाद पूरी तौर पर हिन्दुस्तानी बन गया है।

एक और प्रवासी महिला उपन्यासकार हैं। कई वर्षों से अमेरिका में रह रही हैं। 'अरेंज्ड मैरेज', 'सिस्टर ऑफ माई हार्ट', 'द वाइन ऑफ डिजायर', 'मिस्ट्रेस ऑफ स्पाइसेस' के बाद चित्रा बनर्जी दिवाकरुणी का अगला उपन्यास आया 'क्वीन ऑफ ड्रीम्स'। हालाँकि यह उपन्यास स्त्री (राखी और उसकी माँ मिसेज गुप्ता) केंद्रित है मगर चित्रा ने इसमें कुछ पुरुष पात्र भी रखे हैं। ये पुरुष पात्र इनके पिछले पुरुष पात्रों से बहुत अलग हैं। इसमें मुख्य रूप से तीन पुरुष पात्र हैं - राखी के पिता मिस्टर गुप्ता, राखी का पति सनी। सनी एक प्रसिद्ध नाइट क्लब में डी.जे. है। राखी और सनी में नहीं बनी अतः वे अलग रह रहे हैं। राखी अपनी बेटी जोना, अपनी पेंटिंग्स और अपने टी हाउस को लेकर संघर्ष कर रही है। तीसरा पुरुष पात्र है राखी की मित्र बेले का प्रेमी सरदार जसपाल। हाँ एक चौथा रहस्यमय पुरुष भी उपन्यास में है। सफेद वस्त्रों वाला यह पुरुष कभी पूरी तौर पर सामने नहीं आता है सदैव स्वप्नवत् रहता है। राखी की माँ के जीवन में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। वही प्रदर्शनी में राखी की वह पेंटिंग खरीदता है जो राखी ने उस पर बनाई है। पेंटिंग में वह पेड़ों की आड़ में सफेद वस्त्र में है। राखी को पूरा विश्वास था कि प्रदर्शनी में वह अवश्य उससे मिल सकेगी मगर राखी को वहाँ पहुँचने में देर होती है तब तक वह चित्र ले कर जा चुका होता है।

चित्रा ने मिस्टर गुप्ता और सनी को बहुत संवेदनशीलता के साथ गढ़ा है। राखी शुरु में अपने पिता से बहुत चिढ़ी रहती है और अपनी माँ की मृत्यु का जिम्मेदार अपने पिता को मानती है। बाद में जब वह माँ के ड्रीम जनरल्स को पिता की सहायता से जानती-पढ़ती है तो धीरे-धीरे उसे अपने पिता के व्यक्तित्व के कोमल, समझदार पक्ष का ज्ञान होता है। पिता उसके चाय घर में रसोइए का काम संभाल कर उसे बंद होने से बचाते हैं। मिस्टर गुप्ता पाक कला में बहुत कुशल हैं मिठाई, पकौड़े और तमाम तरह के व्यंजन बनाने में माहिर हैं। वे गुनगुनाते हुए खाना बनाते हैं। इससे पता चलता कि वे इस काम को करते हुए कितने आनंदित होते हैं। वे बहुत अच्छा गाते हैं जिसका नतीजा राखी के चाय घर का एक विशिष्ट चाय घर में परिवर्तित होना। राखी को पिता के इन गुणों का तब पता चलता है जब वे अपने गुणों से उसके डूबते व्यापार को नई ऊँचाई देते हैं। इतना ही नहीं, वे वक्त जरूरत राखी को जीवन के कुछ महत्वपूर्ण सूत्र भी थमाते चलते हैं। निराशा में आशा का दामन थामे रखना, 'चेफ-कम-पीसमेकर' मिस्टर गुप्ता की विशेषता है।

सनी से राखी की नहीं पटी। दोनों कलाकार हैं। राखी की तुनकमिजाजी का नतीजा है कि सनी अपनी पत्नी और बच्ची से दूर रह रहा है। मगर वे दोनों एक दूसरे को अभी भी प्यार करते हैं। सनी एक बहुत प्यारा सा इंसान है जिसका अर्थ राखी को ज्ञात होता है। वह राखी को वक्त पर सहारा देता है। उसके सुख-दुःख में शामिल होता है और एक वक्त आता है जब राखी को एहसास होता है कि वह उसके बिना नहीं रह सकती है तो दोनों फिर एक हो जाते हैं, सनी की ओर से कोई बाधा नहीं थी।

और जसपाल तो जेम है। सिख धर्म का पक्का अनुयायी वह भी राखी, सनी और बेले की तरह अमेरिका में ही जन्मा-पला है। उपन्यास सितम्बर ग्यारह की घटना और उसके बाद नस्लवादी और राष्ट्रवादी उग्रवाद का विस्तार से चित्रण करता है। जसपाल की दाढ़ी, पगड़ी उसे अमेरिकन की नजर में मुस्लिम उग्रवादी मान बैठते हैं। बहुत प्यारा इंसान है जसपाल। बेले पर जान छिड़कता है, बेले द्वारा लम्बे समय तक उपेक्षा किए जाने पर भी वह एकाग्र भाव से उसे प्रेम किए जाता है। मिस्टर गुप्ता से सहज ही उसकी दोस्ती हो जाती है। जसपाल की मासूमियत, उसकी सबकी सहायता के लिए सदा तत्पर रहने की आदत मन लुभाती है।

बदलते समय के साथ ऐसे पुरुषों को आगे आना ही होगा। स्त्री सशक्तिकरण के साथ पुरुष की भूमिका भी बदल रही है। चित्रा का उपन्यास इस बात की शिनाख्त करता है। चित्रा के पुरुष पात्र सुषम बेदी के 'मैंने नाता तोड़ा', किरन देसाई के 'द लॉस ऑफ इनहेरिटेंस' और अर्चना पैन्यूली 'वेयर डू आई बिलांग' के पुरुष पात्रों से भिन्न हैं। थोड़ी सी साम्यता अगर की जा सकती है तो बेदी के अनिरुद्ध से की जा सकती है। गोविंद शांडिल्य, निर्मल शर्मा बरसों-बरस प्रवास में रह कर भी अपनी मानसिकता नहीं बदलते हैं। रितु के पिता, अंकल और भाई अजय कभी अपने समाज से बाहर नहीं निकलते हैं। और जेमूभाई पोपटलाल पटेल दो संस्कृतियों के टकराव में न इधर के रह जाते हैं न उधर के। संस्कृतियों का टकराव अर्चना, किरन और चित्रा दिखाती हैं। सुषम के यहाँ दूसरी तरह के तनाव-संघर्ष हैं।

इस तरह इन चार उपन्यासों में भारतीय महिला प्रवासी उपन्यासकार दिखाती हैं कि जहाँ पुरुषसत्तात्मक समाज है वहाँ कोई खुश नहीं रहता है। दमन और अत्याचार यहाँ सामान्य बात होती है। अपने-अपने विचारों, आदतों और संस्कारों की कैद में पड़े ये पुरुष समय-समाज को अतीत में रोके रखना चाहते हैं मगर समय-समाज किसी के रोके नहीं रुकता है। दुनिया आगे बढ़ जाती है, ये अपने खोल से बाहर नहीं निकल पाते हैं। अपने पूरे छल-बल से दूसरों का दमन करते हैं उन पर शारीरिक, मानसिक और भावात्मक अत्याचार करते हैं। जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ दोनों एक दूसरे के सहायक बनते हैं एक दूसरे के गुणों को निखारने में अहम भूमिका निभाते हैं। अर्चना पैन्यूली और सुषम बेदी यह भी दिखाती हैं कि इसी समाज में हरि, मार्टिन और अनिरुद्ध जैसे पुरुष भी हैं जो नारी का सम्मान करते हैं उसके प्रेम का प्रतिदान देना जानते हैं। स्त्री को बराबरी का दर्जा देते हैं उसकी उन्नति, सुख-दुःख में उसके साथ खड़े होते हैं। ऐसे पात्र अँगुलियों पर गिने जा सकते हैं।

समीक्षा

दीप्त होता पाठक

शख्सियत

■ मनोज मोहन

जोहरा सहगल एक सौ एक वर्ष की हो चुकी हैं यानी उनके पास शताब्दी भर की स्मृतियों की धरोहर स्वयं का है। अपनी जन्म शताब्दी के अवसर पर एक रचनाकार व्यक्तित्व विभिन्न संदर्भों और अपने आस पास फैले विशाल परिप्रेक्ष्य को याद करता है तो उसके लिए जिन्दगी महज वहीं नहीं होती जो उसने जिया है। बल्कि वह है जो उसकी स्मृतियों में कैद हो गई है और जिसकी चर्चा करना वह पसंद करता है। निश्चित रूप से जोहरा आपा जैसे सक्रिय जीवन जीने वाली महिला के पास स्मृतियों का खजाना है। वे कहती हैं, 'दिन-ब-दिन कमजोर होता शरीर, चलने में होती लड़खड़ाहट की वजह से मैं लगभग रुक सी गई हूं, दांत एक-एक करके साथ छोड़ रहे हैं, आंखों की रोशनी इतनी धीमी पड़ती जा रही है कि अक्सर लिखते वक्त मैं पंक्तियां और शब्द देख नहीं पाती, इसके बावजूद अपनी सक्रियता को कम न करने की जिद पर अड़ी हैं वो और इसी जिद का नतीजा है कि मंच और फिल्मी पर्दे से जुड़ी अपनी यादों को लेकर 'करीब से' आत्मकथा में उपस्थित हैं। उनके जीवन का सूत्र वाक्य यह है कि 'खुद से कहो कि तुममें तमाम मुसीबतों से पार पाने की ताकत है और तुम पाओगे कि तुम्हारे अंदर की ताकत हर मुश्किल का सामना करने में मदद करेगी।'

इस सफरनामे के सौ साल से ज्यादा लंबी मौजूदगी का एक बड़ा फलक वो यहां पेश करती हैं। अपनी जिंदगी में पूरी तरह संतुष्ट जोहरा आपा जीवन भर संघर्ष करती रही। परेशानियां कम नहीं थीं लेकिन हालात का सामना 'हिम्मत और मजबूत इरादों के साथ' करती गयीं। इस किताब में औरत का स्यापा कहीं नहीं हैं। यह कभी नहीं कहा जाना चाहिए कि जोहरा एक मजबूत इरादों वाली और जिंदा दिल औरत हैं बल्कि उनका जीवन स्त्री-पुरुष के प्रचलित खांचे से अलग एक पूरे मनुष्य होने की कोशिश में जिया गया है। अपने प्रिय मामू को लिखे एक खत में जोहरा शारीरिक शक्ति और सुंदरता को अंदर की आत्मा को उसके लक्ष्य पाने में मदद का जरिया मानती हैं।

आधी शती से भी अधिक पहले गुजरे-पति को इस आत्मकथा में इस तरह याद करती हैं, 'उन्हें खोने का यह दुख हमेशा मेरे साथ बना रहेगा। मेरे प्यारे कामेश्वर हम तीनों, मैं और मेरे बच्चों के साथ हमेशा हैं। हम लोग बहुत प्यार के साथ उनकी बात करते हैं, उनके असाधारण हुनर को, उनके बेहतरीन हास्यबोध और उनकी खूबसूरती को याद करते हैं। उनकी रचनात्मक ऊर्जा तक मुझे चारों ओर से घेरे हुए हैं और वह मेरे मरने के बाद भी बनी रहेगी।'

इस आत्मकथा को पढ़ते समय एक ईमानदार शख्सियत की छवि हर जगह मिलती है। अपनी मां के बारे में वे जो लिखती हैं 'उन्हें खोने का दर्द भरा अहसास मेरी युवावस्था तक हमेशा बना रहा जब तक कि मैं खुद जिंदगी में पहली बार पूरी शिद्दत के साथ प्यार में डूब नहीं गई। और जोहरा आपा का व्यक्तित्व जिस सांचे में ढला उसका अक्स उनके पिता के बारे में लिखे शब्दों में देखा जा सकता है। 'कितने बढ़िया पिता थे और कितने बढ़िया इनसान! सभी लोग उनकी इज्जत करते थे और उन्हें प्यार करते थे। चाहे वह उनके खुद के बच्चे हों या बाहर के लोग। दरियादिल, इंसाफ पसंद, दखलंदाजी न करने वाले और आत्मसम्मान से भरपूर। उनके जैसा दूसरा आदमी मिलना मुश्किल होगा।'

यह सच है कि जोहरा सहगल को ऐसा जीवन जी पाने के लिए उनके परिवार का आधुनिक सोच सहायक हुआ। सौ साल पहले नवाबशाही परिवार में लड़कियों को स्कूल भेजने की बात कोई सपने में भी नहीं सोच सकता था, लेकिन उनके पिता ने उन्हें लाहौर के क्वीन मैरीज कॉलेज में भेजा। और वहां दो बार प्रमोशन मिलने के बावजूद मैट्रिक की परीक्षा देने के लिए ढाई साल तक उन्हें रुकना पड़ा था क्योंकि परीक्षा देने की निर्धारित उम्र 15 की थी। इससे उनके कुशाग्र होने का प्रमाण तो मिलता ही है।

अपनी जोशीली और मजेदार जिंदगी के बारे में खुद कहती हैं कि 'मैंने दुनिया की तकरीबन सारी बड़ी राजधानियों में डांस या एक्टिंग की है। मैं अपनी पीढ़ी के बहुत से मशहूर लोगों से मिली हूं। मैंने दो विश्व युद्धों का अनुभव किया है और इंग्लैंड में दो बार राजतिलक देखा। ऐसे भरे-पूरे जीवन को जीने वाली जोहरा उन लोगों के लिए आदर्श हैं जो अपना जीवन जिंदादिली से जीना चाहते हैं।

इस आत्मकथात्मक किताब के अंतिम मुकाम पर कहती हैं- 'मुझे लगता है कि कुछ काम मिला, लेकिन मैंने अपने लिए थोड़ी सी पहचान बनाई, बहुत सारा तर्जुबा कमाया और कड़ी मेहनत के बावजूद अपने काम से बेपनाह, खुशियां पाईं। और क्या चाहिए, मैं इसे ऐसा ही चाहती थी।'

बुद्ध का सूत्र 'अप्प दीपो भव' का विशलेषण करते हुए कविवर अज्ञेय ने कहा था कि आत्म दीप्त कवि भी होता है और कदाचित उसके दीप की लौ से असंख्य दूसरे दीपों की बत्तियां आग पकड़ती हैं। ठीक इसी मूल भावना के निकट जोहरा सहगल की 'करीब से' पुस्तक है जो हर सच्चे और ईमानदार रचनात्मक व्यक्तित्व को सक्रिय रहने का सबक देती है।

मूल पुस्तक अंग्रेजी में लिखी गई है। राजकमल प्रकाशन ने दीपा पाठक के अनुवाद को सुरुचि के साथ प्रस्तुत किया है। अनुवाद की गति इतनी सहज है कि पाठक के सामने कहीं भी बाधा उपस्थित नहीं होती।। अनुवादक और प्रकाशक ने एक बेहतरीन पुस्तक को हिंदी में उपलब्ध कराया है। दोनों का साधुवाद।

करीब से
जोहरा सहगल
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
संस्करण : 2013
मूल्य : 495/-

स्वतंत्र रूप से साहित्यिक पत्रकारिता। दिल्ली में रहते हैं।
संपर्क : 09868664457

समीक्षा

कविता

बदलते परिदृश्य के साथ क़दम ताल करती कविताएँ

■ जितेंद्र बिसारिया

'इस तरह मै' (2000), 'स्त्री मेरे भीतर (2004), 'अस्पताल के बाहर टेलीफोन' (2011) और 'कहना नहीं आता' (2012) के बाद सद्यः प्रकाशित 'कोट के बाजू में बटन' पवन करण का यह पाँचवा और महत्वपूर्ण कविता संग्रह है। इन कविताओं की खासियत यह है कि यह अपनी कहन और शैली में कहीं से उबाऊ और बोझिल नहीं है। भाषा की सादगी, वैचारिक तीव्रता और सम्प्रेषण की सहजता ही इन्हें सर्वप्रिय और सर्वग्राही बनाती है। अभिव्यक्ति के खतरे उठाने तक बेलौस और बेबाक ये कविताएँ जनधर्मी तो हैं ही, साथ ही अपने समय का आईना भी दिखाती हैं कि हम जिस समय और समाज में साँस ले रहे हैं वह कोई आदर्श और स्वर्णिम युग नहीं है। ...पूरी तरह अर्थ प्रधान हो चुके समय और समाज पर हावी बाज़ार में, हर भले ईमानदार इनसान की प्रसांगिकता कुछ इस प्रकार तय हो रही है : तुम किसी का हक क्यो नहीं मारते/किसी को लूटते क्यों नहीं/किसी का गला काटने का कमाल/क्यों नहीं करते तुम, मेरी दुनिया में/तुम्हारी कोई ज़रूरत नहीं (बाज़ार पृ.103) वह बाज़ार में तभी प्रासांगिक है जब वह अपने पूर्व के स्वाभाविक गुण त्यागकर, इन तरीकों को अपनाता है : आना जब तुम्हारी जेबें भरी हों/भले ही नोट ख़ून से लिथड़े हों। (वही, पृ.103)

पूँजीवादी अथवा बाजारवादी संस्कृति का देय हमारे लिए विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र में भले ही उत्कृष्ट और लाभकारी रहा हो, किन्तु दूसरी ओर भूमंडलीकरण की आड़ में हो रहे आर्थिक उपनिवेशीकरण और बाजारवाद के माध्यम से अफ्रो-एशियाई देशों को पुनः गुलाम बनाए रखने की उसकी प्रवृत्ति, उतनी ही घातक और विनाशकारी सिद्ध हो रही है। संग्रह में एक कविता 'अमेरिकी राष्ट्रपति होने के मजे' के माध्यम से कवि ने पूँजीवादी देशों की असलियत हमारे सामने उघाड़ कर रख दी है : अपने कोट की जेबों में भरे डॉलरों के मज़ेदार खेल में/वह इतना माहिर होता है कि उसके अपनी जेब से/डॉलर निकालकर बाहर उछालते ही/इराक हो जाता है/या हो जाता है अफगान/वह यूरो को पुचकारता है उसे ज़्यादा न उछलने की/सलाह देता है और डॉलर के कान में/धीरज बनाए रखने के लिए फुसफुसाता है (अमेरिकी राष्ट्रपति होने के मजे : पृ. 51)। किन्तु कवि इन पूंजीवादी देशों की तानाशाही से निराश नहीं है और न ही अमेरिका को अजेय और सर्वशक्तिमान मानने के लिए बाध्य : अमेरिका का राष्ट्रपति बस अमेरिका का राष्ट्रपति/होने की वजह से इतने मज़े में दिखाई देता है/कि उसकी रगड़ने की वजह से अक्सर/लाल हो जाती आँखों में लगातार किरकिरी सा चुभता/क्यूबा किसी को दिखाई ही नहीं देता। (अमेरिकी राष्ट्रपति होने के मजे : पृ. 52) किन्तु क्यूबा की भाँति हमारा देश, जन और उसकी संस्कृति क्या इसके लिए तैयार है, जिसने गुलामी ओढ़ना-बिछाना और आपसी ईर्ष्या-द्वेष एवं भेदभाव अपना धर्म और कर्तव्य मान लिया हो? उनकी इसी जड़ता के चलते यहाँ का आम दलित-शोषित इंसान देश की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और न्यायिक प्रणाली के प्रति पूर्ण रूप से अविश्वस्त है : पिछली सदी की तरह/नहीं होगी मेरी कोई आवाज़/अगली सदी में भी/हाथों में कुछ जूते/और मुँह पर कई गालियाँ/मेरे लिए वहाँ भी होंगी तैयार (नई सदी में : पृ. 63)

जबकि अपने सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति निष्ठा, राष्ट्रीयता का सम्मान और स्वतंत्रता, समानता एवं भाईचारे के प्रति आस्था, किसी देश और समुदाय की जैविक शक्ति अथवा प्राण होते हैं और उनकी रक्षा का भार उनका दायित्व।... पवन करण बार-बार अपनी कविताओं में उन व्यक्ति-प्रसंगों को रेखांकित करने से नहीं चूकते, जिन्होंने वर्चस्ववादी ताकतों के आगे घुटने न टेकते प्रतिरोध की संस्कृति को जीवित बनाए रखा है। 'रँगे अदक', 'नारिसा चक्रबोंग्से' और 'यू चुआन' उनकी कुछ ऐसी ही व्यक्तिपरक कविताएँ हैं, जिन्होंने सम्राज्यवादी, वर्चस्ववादी ताकतों के आगे न झुकते, अपनी देश-जाति की रक्षा को समर्पित रहे : मैक्लौडगंज में लगातार हारता एक धर्मगुरू/उन्हें अचानक जीतता दिखाई देने लगता है/उन्हें लगता है यह लाल वस्त्रधारी/कहीं हमारे लाल रंग को न हरा दे।...रँगे अदक तुम इतनी जल्दी/थ्यैन आन मन चौक को कैसे भूल गए (रँगे अदक : पृ. 91) प्रतिरोध की इन पारदेशीय विभूतियों के स्मरण के साथ ही कवि की स्वदेशी संस्कृति और उसके तथाकथित नायकों के प्रति उसका चिंतन और अविश्वास भी हमें, बहुत देर तक, दूर तक सोचने को विवश करता है : सदी का महानायक कभी नहीं बोला/मुझे दुख है क़र्ज में डूबे देश के/इतने किसानों ने आत्महत्या कर ली/उलटे वह कन्धे पर हल की जगह/जेब में फर्जी प्रमाण पत्र रखे/किसान होने खेतों की तरफ़ चल पड़ा।...नारिसा चक्रबोंग्से तुम्हें सलाम- तुमने थाम ली/अपने हाथों में विरोध की मसाल (नारिसा चक्रबोंग्से : पृ. 92)

प्रेम की जिस गहन अनुभूति को उसके सम्पूर्ण रग-रेशे के साथ पवन करण ने अपने जीवन और साहित्य में रचा-बसाया है, उसकी उपस्थिति अन्यत्र दुर्लभ है। पवन करण अपनी अधिकांश प्रेम कविताओं में प्रेम की विभिन्न अनुभूतियों को पकड़कर कविता में ढालते हैं, तो लगता है कि इनमें से अधिकांश को तो हमने जिया और भोगा है, किन्तु अभी तक वह काव्य में न ढल सकी थीं। 'पिटाई', 'क्या मैं तुम्हें बदला हुआ सा नहीं लगा', 'जिसे वह अपने विस्तार की तरह देखती', 'चाँद तुझसे होड़ है मेरी', 'लड़ाई : पाँच प्रेम कविताएँ', 'अपने विवाह की तैयारी करती प्रेमिका', 'उस भले आदमी के पास मैं अपना समय छोड

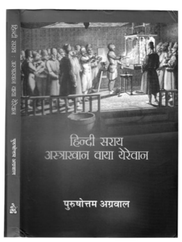

कोट के बाज़ू में बटन
पवन करण
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली
संस्करण : 2013
मूल्य : 250/-

युवा समीक्षक। ग्वालियर में रहते हैं।
संपर्क : 09893375309

आई हूँ', 'मैं जानती हूँ वह मुझसे क्या जानना चाहता', पवन की कुछ ऐसी ही कविताएँ हैं। जिसमें प्रेम के कई गहरे और अनछुए रंग और शेड्स हैं।

ये प्रेम कविताएँ कोई सीधी-सपाट ललित रचनाएँ न होकर-'मध्यमवर्गीय भद्रलोक की वर्जनाओं से भिड़ंत की धमक वाली ये कविताएँ पाठक के संवेदनतंत्र में कुछ अलग प्रकार से हलचल पैदा करती हैं। कविताएँ भद्रलोक के काव्य-वितान में छेद करते हुए प्रेम और देह के बीच खड़ी की गई झीनी, रोमांटिक चादर को किनारे सरकाती हैं।' (फ्लैप से) : मैं उससे कुछ कहूँ वह उससे पहले ही/मुझसे कहती है क्यों क्या कमी है मुझमें/तुम्हीं तो मुझे दुनिया में सबसे सुन्दर बतलाते हो न/जब मेरी सुन्दरता दुनिया में अकेली है/तब दिक्कत क्या है मेरे नग्न फ़ोटो सेशन में/और तुम्हारे दिखाये उन लड़कियों के नग्न चित्र/मैंने अपनी निगाह के साथ-साथ/तुम्हारी नज़र से भी देखे हैं/उन लड़कियों में एक मैं भी क्यों नहीं हो सकती (फ़ोटो सेशन : पृ. 43)

लेकिन ऐसा भी नहीं है कि प्रेम को लेकर कवि का दृष्टिकोण अराजकतावादी हो, प्रेम नैसर्गिक है और वह वर्जनाओं से भयभीत नहीं होता। संग्रह में 'वह अब मुझसे भी डरने लगी है' एक ऐसे पिता के अंतर्द्वन्द्व की कविता है जिसके विवाहेत्तर प्रेम के चलते अब उसकी पुत्री, मन ही मन घृणा करती उससे भय खाने लगी है : अक्सर अपनी वजह से उसकी माँ के चेहरे का तनाव/मुझे उसके चेहरे पर छाया दिखाई देता है/उस वक़्त मुझे उसकी माँ का चेहरा/एक सा नज़र आता है/मुझे लगता है इस प्रेम की वजह से जो मुझे न मिलता/तो शायद मैं कभी पूरा न हो पाता/कभी अपना होना न जान पाता/कभी ख़ुद को न समझ पाता/मैंने अपनी बेटी की नज़रों में अपना पिता होना खो दिया है (वह अब मुझसे भी डरने लगी है : पृ.21) लगभग आत्मस्वीकृतियों के रूप में लिखी गईं यह रचनाएँ, मात्र व्यक्तिगत न होकर परिवर्तनशील वृहद समाज का भी सच हैं।

केवल भाव, विचार और संवेदना के स्तर पर कोई कवि लम्बे समय तक कविता नहीं करता रह सकता। ...कविता के क्षेत्र में लम्बे समय तक टिके रहने के लिए इन सब बातों के अलावा कोई बचा सकता है, तो उसकी वैचारिक प्रखरता और नित नए अनुभवों की नूतनता से लैस कविता में-'कथातत्व'। और यह अकारण नहीं कि करण के इस संग्रह की अधिकांश कविताओं में भाव, विचार और संवेदना के साथ-साथ 'कथातत्व' का समावेश बखूबी हुआ है। 'कथातत्व' से युक्त इन कविताओं में कहीं खण्डकाव्य का आस्वाद है, तो कहीं संस्मरणों जैसी आत्मीयता, तो कहीं चोट खाए मन की पीर का आख्यान। ... संग्रह की 'छोटा भाई' और 'पुराना मकान' जैसी कुछ कविताएँ तो अपने गहरे भाव बोध और मार्मिक कथानक के चलते, लम्बे समय तक स्मरण रखे जाने योग्य हैं : हम जब उसे छोड़कर चले तमाम कोशिश के बाद भी/एक टोंटी बंद ही नहीं हुई पुरानी/बूँद-बूँद टपकता रहा उससे पानी/हमें लगा जब हम घर से बाहर निकल रहे थे/उससे जोर-जोर से बूँदें टपक रही थीं शायद वह आँसू थे/जो नाम ही नहीं ले रहे थे रुकने का (पुराना मकान : पृ. 38)

पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री के विरुद्ध स्त्री के शत्रु होने की नियति यथार्थ नहीं अपितु एक षड्यंत्र रही है, जिसमें पुरुष साम, दाम, दंड, भेद द्वारा स्त्रियों को परस्पर लड़ाकर उनकी दासता को और दृढ़ करते रहते हैं और स्त्रियाँ अपनी विवशता, झुंझलाहट और हीन भावना के कारण, एक दूसरे के अभिशापों को विविध बनाकर उससे बाहर आने का मार्ग अवरुद्ध करती रहती हैं। पवन करण ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'छिनाल' में भी लगभग यही स्थिति उद्घाटित की है : उसके भीतर से एक-एक कर/बाहर आते पुरुषों ने ही नहीं/अपने को भीतर ही भीतर मारतीं/औरतों ने भी नहीं बख़्शा उसे/उन्होंने भी उसे इसी शब्द से ताँसा।... और तो और ख़ुद उसने भी/इसे अपने ही जैसी औरत के/सिर पर खींचकर दे मारा (छिनालः पृ.63)

जिस प्रकार पितृसत्तात्मक वर्णव्यवस्था में स्त्रियों को अशक्त बनाए रखने की चाल में उनके नाजुक, भारी और क़ीमती वस्त्राभूषणों का प्रयोग और प्रचलन एक सीमा तक उत्तरदायी है, ठीक वैसे ही वर्ण और जाति के इस संजाल में दलितों को दलित बनाये रखने के लिए वर्णव्यवस्थाकृत और सरकार द्वारा मौन समर्थित, नीच और गंदे समझे जाने वाले कार्य भी उतने ही उत्तरदायी हैं। संग्रह की 'सीवर लाइन' कविता में पवन करण ने सिर पर मैला ढोने की प्रथा पर करारा व्यंग्य और गहन आक्रोश व्यक्त किया है : एक आदमी सीवर लाइन में/काम करने उतरता है/और वापस नहीं लौटता है/हमारे गू में लिथड़ी/उनकी लाशें बाहर निकलती हैं।...गू तसले से रिसकर देह पर/टपकते हुए चलने और/सिर पर सवार रहने का/सामंती संस्कार भूलता नहीं। (सीवर लाईन : पृ.3117)

पवन करण की काव्य दृष्टि एक यथार्थवादी कवि की दृष्टि है, जो कल्पना की ऊँची उड़ान भरने से ज्यादा यथार्थ तथ्यों की सूक्ष्म पड़ताल करने में अधिक विश्वस्त हैं। ...और यही कारण है कि उनकी दृष्टि प्रधानमंत्री के पीछे निर्विकार खड़े कमांडो की मौन-मूक स्थिरता के पीछे का सच जानने को उत्सुक हैं (प्रधानमंत्री के कमांडो : तीन कविताएँ, पृ. 118), तो दूसरी ओर पल्टन बाज़ार की सड़क पर बैठकर शहरी लड़कियों की गोरी हथेली पर मेहंदी लगाते उन पहाड़ी लड़कों के बारे में उसकी यह प्रश्नाकुलता देखते बनती है : दुबले-पतले, साँवले, साधारण से कपड़े पहने/क्या सचमुच लड़के ही हैं ये, कहीं वृक्ष तो नहीं/अपनी गरदनें गोदामों में कटकर गिरने से बचाने/जंगल से भागकर चले आए हों यहाँ/और बैठ गए हों यहाँ आकर चुपचाप शक्ल में लड़कों की/फिर ये वृक्ष ही तो हैं ये लड़के/सिवाय हरियाली बाँटने के कर भी तो क्या सकते हैं कुछ और (पलटन बाजार के लड़के : पृ.199)

कवि की जिज्ञासाएँ असीम एवं उसकी नवोन्वेशी दृष्टि गहन और सबसे ज़ुदा है कि एक ओर वह भाव हीन चेहरों से इतर उनमें प्रेम और लालित्य की तलाश करता है, तो दूसरी ओर साहस की हद लाँघ पूर्व प्रिय से अपने भावहीन होने की स्थिति का जायज़ा लेने प्रश्नतर है। (क्या मैं तुम्हें बदला हुआ सा नहीं लगा : पृ. 28) इतना ही नहीं उसकी जिज्ञासाएँ मानव मन के कोने-आँतरों में मात्र प्रेम और दुःख की तलाश करना ही नहीं, अपितु अपराधी के अपराध की पृष्ठभूमि में जाकर उसकी वर्तमान मनोदशा जानने की भी इच्छा रखती है : इन क़ैदियों में कोई ऐसा भी होगा जिसने किया होगा/अपने ही बीवी-बच्चों को क़त्ल/सबसे पहले कुल्हाड़ी से काटी होगी गहरी नींद सोती पत्नी की गरदन/एक-एक कर फिर तीनों बच्चों को सुला दिया होगा/हमेशा के लिए, फिर लगा ली होगी ख़ुद को फाँसी/लेकिन मार नहीं पाया होगा ख़ुद को/सोचता हूँ अब क्या सोचता होगा वह ख़ुद के बारे में/क्या पत्नी के हाथों में खनखनाती चूड़ियों की आवाज़ और/बच्चे की किलकारियाँ अब भी गूँजती होंगी उसके कानों में (पेशी से वापस लौटते क़ैदी : पृ. 14)

कविता न तो केवल विचार होती है और न जीवन पगडंडी पर चलकर प्राप्त अनुभवों की कोख से निकले सपाट अथवा टेड़े-मेड़े संस्मरण; बिंब और प्रतीकों का संघनन तो कदापि नहीं। इन महत्वपूर्ण कविताओं के अतिरिक्त संग्रह की 'नाच', 'गाय हमारी माता है', 'स्वप्न', 'भूलना', 'पिटाई', 'दाड़ी', 'कढ़ी', 'कोट के बाज़ू में बटन', 'चम्मच', 'ढोल', 'हंटर वाले मुल्ला जी, 'सोनागाछी', 'बात', 'आस्था', इत्यादि कुछ ऐसी ही कविताएँ हैं, जिनमें उपरोक्त किसी एक की न्यूनता खटकती है। अंत में हम कह सकते हैं कि 'इस तरह मैं' और 'स्त्री मेरे भीतर' के बाद के दो संग्रहों की अपेक्षा पवन करण का यह संग्रह 'कोट के बाज़ू में बटन', निश्चय ही अपने शिल्प, संवेदना और कहन में उत्कृष्ट और हिंदी कविता को समृद्ध करने में सक्षम हैं। पाठक इन कविताओं की धमक बहुत देर तक और दूर तक सुनेगें ऐसा हमारा विश्वास है।

समीक्षा

भारतीय डायस्पोरा में स्त्रियां

■ विजय कुमार झा

एक साथ दो देश-काल (भूगोल-इतिहास-संस्कृति) में जीना यानी दोहरी जिंदगी डायस्पोरा समुदाय की नियती होती है। एक तो उसका अपना मूल देश-काल होता है, जिसके साथ उसकी अस्मिता जुड़ी होती है, जिसमें उसकी चेतना रची-बसी होती है। दूसरा देश-काल वह होता है, जिसमें वह रहने आता है, जिसके लिए वह अजनबी होता है। यहाँ वह खुद को अन्यीकृत और हाशिये पर पाता है। उसे यहाँ बताना पड़ता है कि वह कौन हैं? यहाँ जिस रूप में वह खुद को प्रस्तुत करता है वह मूल अस्मिता से ही काढ़कर रची गई अस्मिता होती है, लेकिन इसे रचते वक्त वह नए देश-काल के मिजाज का पूरा ख्याल रखता है।

अमेरिका में बसे हिंदू भारतीयों ने अपनी अस्मिता रचने के लिए मूल अस्मिता के धार्मिक पक्ष पर यानी हिंदू होने पर अधिक बल प्रदान किया है। धर्म और देश-काल-अंतरण के बीच के संबंध पर खूब विचार विमर्श हुए हैं। टी. स्मिथ ने तो एक देश-काल से दूसरे देश-काल में जाने की प्रक्रिया को अनिवार्य तौर पर धार्मिक अनुभूति माना है। उनके हिसाब से पराए देश-काल में हम अपनी अस्मिता निश्चित तौर पर धार्मिक पदों में ही रचेंगे। अमेरिका के संदर्भ में एक और कारक जुड़ जाता है। अमेरिका में सामुदायिकता के गठन का आधार धर्म रहा है। इसलिए, वहाँ अन्य जगह से आकर बसे किसी समुदाय का अपने धर्म का आसरा लेने की ओर प्रवृत्त हो जाना स्वाभाविक है।

वैसे भी, धर्म की डोर अपनों को खींच ले आने में सबसे मजबूत और उपयुक्त सिद्ध हुई है। अमेरिका में हिंदू भारतीयों ने हिंदू धर्म का ऐसा संस्करण तैयार किया है जो उनके अमेरिकीकरण की राह में बाधक न हो। नतीजतन, एक हिंदू-अमेरिकी अस्मिता निर्मित हुई है। इस अस्मिता की रचना में स्त्रियाँ केंद्रीय भूमिका निभाती हैं।

प्रस्तुत किताब नेगोसीएटिंग आइडेंटिटीज में अपर्णा रायपरोल ने यही उजागर करने का प्रयास किया है। उनका यह अध्ययन अमेरिका के पीट्सबर्ग में 1977 में स्थापित वेंकटेश्वर मंदिर पर केन्द्रित है। आमतौर पर भारत में मंदिरों के प्रबंधन और उनकी दिन-प्रतिदिन की गतिविधियों में पुरुष ही शरीक होते हैं। लेकिन, पीट्सबर्ग के इस मंदिर पर लेखिका को दूसरा ही नजारा नजर आया। उन्होंने पाया कि मंदिर की गतिविधियों के सभी स्तरों पर स्त्रियों की अत्यधिक संलग्नता है। इसी से उन्हें इस अध्ययन की प्रेरणा मिली।

वेंकटेश्वर मंदिर के संदर्भ में लेखिका ने पाया कि निर्माण कार्य से लेकर उसके कोष के लिए धन एकत्र करने में स्त्रियों की महत्वपूर्ण भूमिका है। उन्होंने पाया कि मंदिर की प्रशासनिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक और धार्मिक-सभी समितियों में स्त्रियों को महत्वपूर्ण पद प्राप्त हैं। इतना ही नहीं, धार्मिक समिति में स्त्रियाँ पुरोहितों के साथ वार्षिक पंचांग बनाने में जुटी दिखलाई पड़ीं, जो कि भारतीय मंदिरो के संदर्भ में अकल्पनीय है। लेखिका बताती हैं कि 1991में हारवर्ड में हुए सम्मेलन में इस मंदिर का प्रतिनिधित्व किसी पुरुष ने नहीं बल्कि एक स्त्री ने किया था। लेखिका को कतिपय स्त्रियों ने बताया कि मंदिर को चलाने में उनकी बढ़-चढ़ कर भागीदारी के कारण छोटे-मोटे सांस्कृतिक भेद के आधार पर होने वाले तनाव भी नहीं पैदा होते हैं। स्त्रियों के बीच की बहनापा की ऊष्मा सांस्कृतिक भेदजन्य तनाव को जमकर ठोस आकार लेने ही नहीं देती। लेखिका ने पाया कि स्त्रियों ने आपस में काल्पनिक नाते-रिश्ते भी बना रखे हैं, जो भारत में पीछे छूट चुके उनके असली नाते-रिश्ते की कमी की भरपाई करते हैं। एक हद तक मंदिर उनके लिए एक और घर ही है।

पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना में स्थल (स्पेस) निजी/सार्वजनिक दायरे में बंटा हुआ है। सार्वजनिक दायरा पुरुषों के लिए आवंटित है और निजी दायरा स्त्रियों के लिए। मंदिर सार्वजनिक दायरे के तहत आता है। अपर्णा लिखती हैं कि सार्वजनिक दायरे के एक स्थल में स्त्रियों की इस कदर उपस्थिति ने निजी/सार्वजनिक भेद को खत्म-सा कर दिया है। उन्होंने इस परिघटना को फेमिनाईजेशन ऑफ टेंपल कहा है। वे लिखती हैं कि स्त्रियों ने बड़ी संख्या में संलग्न होकर मंदिर जैसे सार्वजनिक स्थल को निजी दायरे यानि परिवार के मानवीय मूल्यों के रंग में रँग डाला है।

गौरतलब है कि लेखिका की उपर्युक्त स्थापना में यह पूर्वमान्यता निहित है कि परिवार का दायरा निश्चित तौर पर मानवीय होता है। जबकि, नारीवादियों ने इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है कि परिवार में विद्यमान मानवीय मूल्यों में व्याप्त सत्ता कर्त्तव्य, भावना, परंपरा आदि के लबादे में लिपटे होने के कारण उभर कर सामने नहीं आ पाती। प्रेमा कुरियन के मुताबिक हिंदू-अमेरिकी अस्मिता की रचना के क्रम में हिंदू स्त्री की एक खास छवि गढ़ी जाती है, जिसके मुताबिक वह शीलवान और त्यागमयी होती है। वह पति के कैरियर को आगे बढ़ाने और बच्चों को पढ़ाई-लिखाई में उपलब्धियाँ हासिल करने में जरूरी सहयोग और निःस्वार्थ सेवा के लिए सदैव तत्पर रहती है। इसके साथ ही, अमेरिकी हिंदू स्त्रियों के उच्च शिक्षा-प्राप्त होने और उनमें से अधिकांश के रोजगार में लगे होने का हवाला देते हुए हिंदू संस्कृति के समतावादी होने पर भी बल प्रदान किया जाता है। नतीजतन, हिंदू स्त्री की ऐसी छवि सामने आती है जो आदर्श पत्नी, माँ और गृहिणी के साथ-साथ उच्च शिक्षा प्राप्त कर नौकरी भी कर सकती हैं। गौरतलब है भारत में हिंदू स्त्रियों ने कतिपय कारणों से मुक्ति के जो स्थल हासिल किए हैं वे अमेरिकी हिंदू स्त्रियों को मुनासिब नहीं होते।

परस्पर विरोधी पहलू लिए हिंदू स्त्री की इस आदर्शीकृत जड़ीभूत छवि की कीमत अमेरिकी-हिंदू स्त्रियों और बेटियों को चुकानी पड़ती है। उन्हें इस छवि के अनुरूप आचरण करना होता है। जो ऐसा नहीं कर पातीं, उन्हें अभारतीय होने के ताने सुनने पड़ते हैं। वे दरकिनार और उपेक्षित

नेगोसिएटिंग आइडेंटिटीज : वीमेन इन इंडियन डायस्पोरा
अपर्णा रायपरोल
आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस
मूल्य : 1500/-

स्त्री अध्ययन पर लगातार गंभीर विमर्श। दिल्ली में रहते हैं।
संपर्क : 09552075775

की जाती हैं। यहाँ तक कि उन्हें घरेलू हिंसा का भी शिकार होना पड़ता है। उनसे यह अपेक्षा भी की जाती है कि अपने साथ होने वाली शारीरिक या मानसिक हिंसा का वे कहीं जिक्र न करें। जो ऐसा करती हैं, न केवल उनपर बल्कि घरेलू हिंसा के खिलाफ मुहिम चलाने वाले दक्षिण एशियाई संगठनों से जुड़ी नारीवादी कार्यकर्ताओं पर अपने समुदाय के साथ विश्वासघात करने का आरोप लगाया जाता है।

कहना न होगा कि हिंदू स्त्री की आदर्श छवि की रचना और अपनी स्त्रियों से उसके अनुरूप आचरण करने की दृढ़ अपेक्षा के क्रम में अमेरिकी-हिंदू पुरुष जाने-अनजाने भारत में हिंदुत्व की सवारी कर रहे कट्टर हिंदू संगठनों की विचारधारा के नजदीक आ ठहरते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। आखिर दोनों ही समूह कई तरह के पंथों और संप्रदायों का मिश्रण रहे हिंदू धर्म को एक ही रंग में रँगने की समान परियोजना में जुटे हुए हैं। धर्म के स्वरूप की इस पुनर्रचना के पीछे धार्मिक भावना कार्य नहीं कर रही है। यहाँ राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए धर्म का (दु)-रुपयोग किया जा रहा है। प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर ने इसी के लिए सिंडिकेटेड हिंदुईज्म का प्रयोग करते हुए इसके खतरों के प्रति आगाह किया था। जहाँ तक मंदिर के फेमिनाईजेशन की बात है तो इसे स्त्रियों के सशक्तीकृत होने का लक्षण नहीं माना जा सकता। अमेरिका में हिंदू मंदिर केवल धार्मिक कार्य-कलाप का स्थल नहीं हैं। वे समुदाय और जातीयता के निर्माण का मंच हैं। यहाँ नई पीढ़ी को बताया जाता है कि वे कौन हैं, उनका मूल देश-काल कहाँ है, उन्हें किन मूल्यों और आदर्शों के साथ जीना है।

लेकिन, जेसा कि प्रेमा कुरियन ने इस किताब की आलोचना करते हुए लिखा है कि स्त्रियों की भागीदारी के कारण हिन्दू धर्म की अंतर्वस्तु में आए बदलावों की ओर लेखिका ने ध्यान नहीं दिया है। जबकि प्रेमा ने अपने अध्ययन के दौरान पाया कि स्त्रियों की बढ़ती भागीदारी ने बहुत सी हिन्दू धारणाओं की व्याख्याओं में बदलाव लाए हैं।

उपर्युक्त सीमाओं के बावजूद यह किताब अमेरिकी-हिंदू डायस्पोरीय अस्मिता की जेंडरीकरण की प्रक्रिया के एक पहलू का नृजातिविषयक विवरण प्रदान करने के लिहाज से महत्वपूर्ण है।

डायस्पोरा विशेष

'शिंडलर्स लिस्ट' का अर्थ

■ **विनोद भारद्वाज**

कवि और कला समीक्षक। राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं में लंबे समय तक काम करने के बाद इन दिनों स्वतंत्र लेखन। फिल्म समीक्षा और विमर्श में प्रतिष्ठित नाम। दिल्ली में रहते हैं।
संपर्क : 09811596465

हॉलोकॉस्ट (विध्वंस), नात्सी अत्याचारों, यहूदियों की पीड़ा, द्वितीय विश्वयुद्ध पर अनगिनत फिल्में बनी हैं। कलात्मक श्रेष्ठता के हिसाब से पूर्व यूरोपियन फिल्मकारों ने इन विषयों पर कम सेंटीमेंटल होकर बेहतर फिल्में बनाई हैं। मिसाल के लिए हंगारी फिल्मकार इश्तवान साबो की फिल्में (मैफिश्टो, सनशाइन आदि)। यहूदी मूल के स्टीवेन स्पीलबर्ग आम तौर पर अपनी परी कथाओं, एडवैंचर फिल्मों के लिए प्रसिद्ध हैं। हॉलीवुड के वह बहुत सफल नाम हैं- सुपरस्टार फिल्मकार। 1993 में एक ओर वह 'जुरासिक पार्क' सरीखी स्पेशल इफेक्ट्स के सिनेमाई चमत्कारों से भरी फिल्म बना रहे थे दूसरी ओर उन्हीं दिनों 'हॉलोकॉस्ट पर 185 मिनट लंबी श्वेत-श्याम फिल्म 'शिंडलर्स लिस्ट' बनाकर उन्होंने फिल्म दर्शकों को ही नहीं- कई बड़े फिल्मकारों को भी हैरान कर दिया। इस फिल्म में स्पीलबर्ग की 'अपनी' दुनिया नहीं थी। पर तारांतीनो सरीखे 'कल्ट' फिल्मकारों (पलप फिक्शन, किलबिल आदि) ने भी खुले दिल से स्वीकार किया कि जर्मन यातना शिविरों के दहला देने वाले ऐसे सच उन्होंने पहले कभी नहीं देखे थे। बहुचर्चित फिल्मकार पोलांस्की ने इस फिल्म का निर्देशन स्वीकार नहीं किया था पर बाद में वह 'शिंडलर्स लिस्ट' के प्रभाव को स्वीकार करने में झिझक नहीं महसूस कर रहे थे। एक दशक बाद 'द पियानिस्ट' फिल्म के पोलास्की ने अपनी 'हॉलोकास्ट' फिल्म बनाई। '2001 : ए स्पेस ऑडिसी' और 'ए क्लॉकवर्क ऑरेंज' फिल्मों के निर्देशक स्टेनले क्युबरिक की 'शिंडलर्स लिस्ट' के बारे में टिप्पणी 'उदार' नहीं है। उनकी टिप्पणी थी कि यह फिल्म 'विध्वंस' के बारे में नहीं है। नात्सियों द्वारा 60 लाख यहूदियों को बेरहमी से मार दिए जाने की कथा नहीं है यह 600 यहूदियों को बचाने की सफलता की कहानी है। यह स्पीलबर्ग की फिल्म की अपनी सूची में 1100 पोलिश यहूदी हैं जिन्हें नात्सी व्यापारी ऑस्कर शिंडलर ने गजब का साहस और मानवीयता दिखाकर बचाया।

नात्सी हॉलोकास्ट से जुड़ी कई फिल्मों को लेकर कई तरह के सवाल उठाए गए हैं। मिसाल के लिए इतालवी कॉमेडियन फिल्मकार रॉबर्टो बेनीनी की 'लाइफ इज ब्यूटीफुल' (जो ऑस्कर पुरस्कारों के खेल में काफी सफल रही थी) को लेकर कुछ लोग आहत हुए थे कि यातना शिविरों के भयावह अंधेरे में कॉमेडी के लिए कोई जगह नहीं है। पर बेनीनी ने 'ब्लैक कॉमेडी' की तकनीक का प्रभावशाली इस्तेमाल किया था।

'शिंडलर्स लिस्ट' का कैनवास बहुत बड़ा है, सिनेमेटोग्राफी अद्भुत है, संगीत मार्मिक है, पटकथा में कई कोण शामिल हैं और प्रमुख पात्रों की ऐक्टिंग प्रभावशाली है। ऑस्ट्रेलियाई लेखक टामस कैनेली के गैरकथा प्रधान उपन्यास 'शिंडलर्स आर्क' पर आधारित 'शिंडलर्स लिस्ट' की पटकथा स्टीवेन जैलिएन ने लिखी है। यानुस कामिंस्की की फोटोग्राफी दर्शक के दिमाग पर देर तक छाई रहती है। जॉन विलियम्स का संगीत भी फिल्म के मिजाज के अनुकूल है। एक ओर नात्सी अफसरों, व्यापारियों की मौज-मस्ती है और दूसरी ओर यहूदियों की जिंदगी का जबरदस्त अंधेरा है। फिल्म के एक स्मरणीय और अद्वितीय प्रसंग में यहूदियों की यातना झेलती भीड़ में एक बच्ची को हम लाल पोशाक में देखते हैं। पूरी फिल्म ब्लैक ऐंड व्हाइट है (अंतिम रंगीन दृश्यों को छोड़ कर) पर इस प्रसंग में लाल पोशाक में लड़की लाल रंग में नजर आती है। एक काव्यात्मकता है, उदासी है, और रहस्य है इस प्रसंग में।

शिंडलकर की भूमिका में लियाम नीसन, उसके यहूदी

भाई की भूमिका में बैन 'गांधी' किंग्सले और परपीड़क नात्सी कैद निदेशक एमोन गोठ की भूमिका में 'राल्फ फिएंस' तीनों ही स्मरणीय है। राल्फ फिएंस का व्यक्तित्व खूंखार नहीं है- वह 'हैंडसम' हैं, उसका काम और नजरिया खूंखार है। फिल्म में उसके और यहूदी मेड के प्रति उसके रुझान को कुछ बहुत मार्मिक प्रसंगों की मदद से प्रस्तुत किया गया है। एक प्रसंग में शिंडलर उसे 'ताकत' का दूसरा अर्थ समझाता है कि तुम किसी को क्षमा करके भी ताकतवर साबित हो सकते हैं। एक बच्चा उसके घर का बाथटब साफ कर रहा है। कुछ दाग कोशिश के बाद भी साफ नहीं हो रहे हैं। वह क्षमा मांगता है अपने खूंखार बॉस से। उसे क्षमा मिल जाती है। वह लड़का भागता है बाहर। यह सोचकर कि मैं बच गया हूं लेकिन परपीड़क उसे क्षमा नहीं कर पाता है। वह दूर से उसे गोली मार कर ढेर कर देता है। कैंप में एक समझदार यहूदी औरत अपनी इंजीनियरिंग का हवाला देती है कि यह सब जरूरी है। उसे फौरन मार देता है एमोन गोठ। इंजीनियर महिला की नृशंस हत्या के बाद एमोन उसी महिला के निर्देशों का पालन करने के आदेश भी देता है।

शिंडलर को शुरू में हम हमेशा मुनाफे के चक्कर में पड़े व्यापारी के रूप में ही देखते हैं। वह यहूदियों की सेवाएं अपनी फैक्ट्री में इसलिए चाहता है कि वे अन्य पोलिश मजदूरों की तुलना में अच्छे और सस्ते दोनों हैं। वह जबरदस्त स्त्री रसिक (वुमेनाइजर) है, पत्नी की उपेक्षा करता है। कुछ आलोचकों की राय में स्पीलबर्ग ने अपनी फिल्म में शिंडलर की पत्नी एमिली की भूमिका के साथ न्याय नहीं किया है। ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार शिंडलर जब क्राकोव (पोलैंड) छोड़कर मोराविया की फैक्ट्री में अपने 1100 यहूदियों को बचाने के लिए घूस देते-देते कंगाल सा हो गया, तो एमिली ने यहूदी मजदूरों को बचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। उसका पति तब भी अपनी मौज-मस्ती यानी 'वुमेनाइजिंग' में व्यस्त था। पर फिल्म में इसकी झलक नहीं नजर आती है।

किसी भी फिल्म में जितने भी ऐतिहासिक तथ्य और दस्तावेज आदि हों पर है तो वह एक फिल्म ही जो सत्य, कल्पना, फैंटसी की आवाजाही में रहती है। फिल्म में इस सत्य को रेखांकित किया गया है कि सिर्फ एक आदमी की जान बचा लेना भी एक बड़ा काम है। जीवन अगर दस मिनट भी बचा है- वह जीवन ही है।

नॉर्वे के मशहूर चित्रकार एडवर्ड मुंक की एक बात यहां याद आती है कि अगर हमें पता चले कि हमारे पास जीवन आधे घंटे का रह गया है, तो वह आधा घंटा भी बहुत लंबा होता है। 'शिंडलर्स लिस्ट' के एक अत्यंत मार्मिक और दहला देने वाले प्रसंग में शिंडलर की लिस्ट की महिलाएं गलती से 'आउश्तवित्ज' के कुख्यात यातना शिविर में भेज दी जाती हैं। वे चीख-चीख के बता रही हैं कि हम शिंडलर के यहूदी हैं- हम दूसरों से अलग हैं। झुंड को गैस चैंबरों में भेजने की तैयारियां दहला देने वाली हैं।

तीन घंटे की फिल्म में हम धीरे-धीरे नात्सियों से पूरी सहानुभूति रखने वाले, रंगरेलियों में डूबे, सत्ताधारियों की जेबें भर के अपना मुनाफा बढ़ाने के जुगाड़ में लगे शिंडलर के अनोखे रूपांतरण को देखते हैं। वह धीरे-धीरे मानवीय होने लगता है, अपने भीतर के मनुष्य को पहचानने लगता है। केवल एक व्यक्ति की जान बचाने से भी जो सच्चा 'पुण्य' मिलता है वह उसे समझने लगता है।

भारतीय डायस्पोरा

■ प्रशांत खत्री

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भारतीय डायस्पोरा एक ऐसे समूह के रूप में देखा जा सकता है जो विश्व के लगभग प्रत्येक भाग में फैला हुआ है। यह डायस्पोरा मुख्यतः दो प्रकार का है- भारतीय मूल के लोग (पीपल ऑफ इन्डियन ओरिजिन) और अप्रवासी भारतीय (नॉन रेसिडेंट इंडियंस)। इन दोनों में एक तत्व जो समान है वह है अपनी संस्कृति, अपने देश और देशज स्मृतियों से जुड़ाव जो इनको एक विशिष्ट पहचान और डायास्पोरिक अस्मिता के साथ जोड़ता है। आज मॉरिशस, त्रिनिदाद और टोबागो, सूरीनाम, यूरोप और अमेरिका के कई देशों में, खाड़ी के देशों में, ऑस्ट्रेलिया, मलयेशिया, सिंगापुर इत्यादि देशों में बड़ी तादाद में भारतीय मौजूद हैं। अप्रशिक्षित कर्मियों से लेकर देश की सत्ता के गलियारों तक लगभग सभी क्षेत्रों में भारतीयों ने अपनी महत्वपूर्ण मौजूदगी दर्ज कराई है। व्यापार, सूचना प्रौद्योगिकी, संचार, मनोरंजन जैसे अनेक क्षेत्रों में भारतीय डायस्पोरा ने अपनी छाप छोड़ी है। इन उपलब्धियों के फलस्वरुप वैश्विक पटल पर भारत की छवि एक प्रगतिशील राष्ट्र की बनी है। इतना ही नहीं भारत ने भी अपने डायस्पोरा की विशिष्टता और क्षमताओं को पहचाना है और उनसे अपने संबंधों को अधिक प्रगाढ़ बनाने का प्रयास किया है। इसी का परिणाम है कि विदेशों में रहने वाले भारतीयों के विषयों को देखने के लिए एक मंत्रालय का प्रावधान है। आज बड़ी संख्या में भारतीय डायस्पोरा अपनी पूंजी का निवेश भारत में उद्योग को बढ़ावा देने के लिए भी कर रहा है। इससे रोजगार के नए अवसर विकसित हो रहे हैं। भारत की विदेश और आर्थिक नीतियों के निर्धारण में भी भारतीय डायस्पोरा के हितों को शामिल किया जाता है और एक ऐसे पारस्परिक सम्बन्ध निर्माण का प्रयास किया जाता है जो भारत में विकास और निर्माण को एक नयी दिशा दे सके।

इस परिप्रेक्ष्य में यह भी आवश्यक हो जाता है कि हम अपने डायस्पोरा को अधिक गहराई और व्यापकता में समझें और एक ऐसे दृष्टिकोण का निर्माण करें जो डायस्पोरा के सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक वैविध्य को समझने में हमारी सहायता करे। इस आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए भारतीय डायस्पोरा से जुड़े विभिन्न आयामों पर अनुसंधान किये जा रहे हैं और इस दिशा में ज्ञान निर्माण का निरंतर प्रयास किया जा रहा है। इसी क्रम में 'द इन्डियन डायस्पोराः डाइनामिक ऑफ माइग्रेशन' एक ऐसी पुस्तक के रूप में देखी जा सकती है जो डायस्पोरा से जुड़े विभिन्न पहलुओं पर गंभीर अकादमिक विमर्श को प्रोत्साहित करती है। यह एक संपादित पुस्तक है जिसमें देश-विदेश के विद्वानों ने डायस्पोरा से सम्बंधित विभिन्न आयामों को व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है। इस पुस्तक के माध्यम से एक अत्यंत व्यापक विषय के विभिन्न पहलुओं को विस्तार से स्पष्ट किया गया है। इस पुस्तक की विषय-वस्तु को किसी विशेष अकादमिक विषय की सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। ऐसा इसलिए क्योंकि डायस्पोरा अपने आप में वैविध्य लिए हुए है और किसी विशेष विषय के अंतर्गत उसको सम्पूर्णता में नहीं समझा जा सकता। एक अंतरानुशासनीय प्रविधि के माध्यम से ही डायस्पोरा का अध्ययन किया जा सकता है। इन विचारों को एन. एन. जयराम ने इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में व्यक्त किया है। उनके अनुसार भारतीय डायस्पोरा का अध्ययन समाजशास्त्र, मानवविज्ञान, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र जैसे विषयों की शोध प्राविधि, अनुसंधान तकनीकों और सिद्धांतों के समन्वय के आधार पर ही किया जा सकता है। पुस्तक के प्रथम अध्याय-द स्टडी ऑफ इन्डियन डायस्पोरा में आपने भारतीय डायस्पोरा को व्यापक दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। यह अध्याय विषय प्रवेश की दृष्टि से अत्यंत रोचक है। 'डायस्पोरा' शब्द के अर्थ को समझाते हुए एक ऐसे विशाल इतिहास की चर्चा की गयी है जो प्राचीनकाल, औपनिवेशककाल और स्वतंत्रता के बाद की विशेष प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत है। तीनों कालखंडों में भारतीयों का प्रवासन विभिन्न कारण ों से हुआ और वैश्विक स्तर पर उनका गंतव्य भी भिन्न था। इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की पृष्ठभूमि में भारतीय डायस्पोरा से सम्बंधित विभिन्न शोधपरक विषयों और क्षेत्रों की चर्चा की गयी है। यह अध्याय उन पाठकों के लिए भी उपयोगी है जो इस विषय के लिए नए हैं और भारतीय डायस्पोरा पर शोध करने के लिए उत्सुक हैं। एन. जयराम ने इस प्रस्तावना के माध्यम से एक ऐसे पटल का निर्माण करने का प्रयास किया है जिसके आलोक में डायस्पोरा के विभिन्न पहलुओं को समझा जा सके। इतिहास और शोध क्षेत्रों के साथ-साथ भारतीय डायस्पोरा के अध्ययन से सम्बंधित विभिन्न सैद्धांतिक आयामों की चर्चा भी इस प्रस्तावना में की गयी है जो वास्तव में प्रस्तावना को पूर्णता प्रदान करती है।

इसी क्रम में एस.एल. शर्मा ने द्वितीय अध्याय में (पर्स्पेक्टिव्स ऑन इंडियंस एब्रॉड) डायस्पोरा अध्ययन से सम्बंधित सिद्धांतों की आलोचनात्मक व्याख्या की है। उनका ऐसा मत है कि डायस्पोरा से सम्बंधित अधिकतर शोध प्रकार्यवादी दृष्टिकोण से हुआ है जबकि भारतीय डायस्पोरा को विभिन्न देशों के परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए मार्क्सवादी दृष्टिकोण भी महत्वपूर्ण है। प्रकार्यवादी दृष्टिकोण के अंतर्गत मुख्यतः सांस्कृतिक अस्मिता और समाकलन से जुड़े प्रश्नों का अध्ययन किया जाता है जिसमें वर्ग और राज्य सत्ता से सम्बंधित आयामों की अनदेखी हो जाती है। भारतीय डायस्पोरा को समझने के लिए आलोचनात्मक दृष्टि का होना अत्यंत अनिवार्य है और इसी की पूर्ति हेतु मार्क्सवाद के सिद्धांतों को डायस्पोरा के समाकलन के सन्दर्भ में समझने का प्रयास किया गया है। इस सैद्धांतिक पक्ष के आधार पर मेहमान और मेजबान के बीच व्याप्त पोलिटिकल-इकोनोमी को समझने का प्रयास

द इन्डियन डायस्पोराः
डाइनामिक ऑफ माइग्रेशन
एन. जयराम (संपादक)
सेज,
नई दिल्ली
मूल्य : 650 /-

मानव विज्ञान के गहन अध्येता के साथ-साथ डायस्पोरा में विशेष रूचि। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अध्यापन।
संपर्क : 09455692280

किया गया है। मेहमान और मेजबान के अंतर्संबंध को सदैव समाकलन और समन्वय की दृष्टि से ही नहीं देखना चाहिए अपितु उनके बीच के द्वंद्व को समझने का प्रयास भी करना चाहिए और इसी परिप्रेक्ष्य में प्रकार्यवादी और मार्क्सवादी सिद्धांत एक दूसरे के पूरक के रूप में देखे जा सकते हैं।

प्रथम और द्वितीय अध्याय भारतीय डायस्पोरा के अध्ययन से जुड़े सैद्धांतिक पक्ष को समझने के लिए अनिवार्य और उपयोगी हैं। डायस्पोरा विषय को समझने के साथ-साथ विषयगत ज्ञान से सम्बंधित ज्ञानमीमांसा को समझना भी आवश्यक है और इस दिशा में एन. जयराम और एस.एल. शर्मा ने महत्वपूर्ण पहल और योगदान किया है। यह ज्ञानमीमांसा पुस्तक की उपयोगिता में वृद्धि करती है और डायस्पोरा की विषयवस्तु को शोध के साथ जोड़ती है। यह डायस्पोरा के विभिन्न पहलुओं को व्यापकता में समझने की दृष्टि से भी सहायक है। यही कारण है कि जब पाठक आगे बढ़ता है और भारतीय डायस्पोरा को समझने का प्रयास करता है तो ज्ञानमीमांसा की पृष्ठभूमि बहुत उपयोगी सिद्ध होती है।

इसी क्रम में तृतीय और चतुर्थ अध्याय में क्रमशः जी.एस. अरोरा और चौधरी एम. सिद्दिकी ब्रिटेन और कैनेडा में भारतीयों के सामाजिक अनुकूलन, प्रवासन और सामाजिक बदलाव की चर्चा करते हैं। जी.एस. अरोरा ने अपने लेख में (प्रोसेस ऑफ सोशियल एडजस्टमेंट ऑफ इन्डियन इमिग्रेंट्स इन ब्रिटेन) ब्रिटेन में रह रहे भारतीयों में सामाजिक अनुकूलन की प्रक्रिया का विश्लेषण करने का प्रयास किया है। आपके अनुसार समुदाय की सामाजिक संरचना का निर्माण सामाजिक अनुकूलन की प्रक्रिया के दौरान ही होता है जिसमें समाज के आंतरिक (नातेदारी व्यवस्था, जाति, मूल्य इत्यादि) और बाह्य तत्वों (मेजबान संस्कृति के तत्व) का समायोजन और समाकलन महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। चौधरी एम. सिद्दकी (ऑन माइग्रेशन टू कैनेडाः द फर्स्ट जनरेशन इन्डियन एंड पाकिस्तानी फेम्लीस इन द प्रोसेस ऑफ चेंज) कैनेडा में प्रवासित भारतीय और पाकिस्तानी परिवारों में होने वाले सामाजिक-सांस्कृतिक बदलाव की प्रक्रिया को समझने का प्रयास करते हैं। इस प्रपत्र के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं- बदलाव की प्रकृति और दिशा को समझना और बदलाव के विभिन्न प्रकारों को व्याख्यायित करना। कैनेडा में भारतीय डायस्पोरा से सम्बंधित एक और अध्याय है जिसमे नोर्मन बुचिग्नानी (कंटेम्परेरी रिसर्च ऑन पीपुल ऑफ इन्डियन ओरिजिन इन केनेडा) केनेडा में भारतीय मूल के लोगों पर किये जा रहे शोध से पाठकों को अवगत करते हैं। इस अध्याय के द्वारा केनेडा में भारतीयों पर किये जा रहे शोध के सन्दर्भ में एक व्यापक दृष्टि मिलती है जो वर्तमान शोध की दिशा के साथ-साथ इस विषय पर शोध के ऐतिहासिक पहलू से भी लोगों को अवगत करता है।

इसके पश्चात् भारतीय डायस्पोरा से सम्बंधित कुछ अन्य महत्वपूर्ण विषयों पर विमर्शात्मक लेख प्रस्तुत किये गए हैं। नासिर मुस्तफा (द इन्फ्लुएंस ऑफ इन्डियन इस्लाम **ऑन फंदामेंतालिस्ट** ट्रेंड्स इन त्रिनिदाद एंड टोबागो) अपने लेख के माध्यम से एक अत्यंत महत्वपूर्ण मुद्दे की तरफ हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। आपका मुख्य उद्देश्य त्रिनिदाद और टोबागो में धार्मिक कट्टरता पर भारतीय इस्लाम के प्रभाव का अध्ययन करना है। इस केरेबियन देश में मुस्लिम समुदाय की वैचारिकी पर पड़ने वाले प्रभावों को व्याख्यायित किया गया है। इस लेख के माध्यम से त्रिनिदाद और टोबागो में मुस्लिम कट्टरता का जन्म, मुसलमानों की वैचारिकी में व्याप्त मत-भेद और विभिन्न इस्लामिक विचारों के प्रभाव का विश्लेषण और व्याख्या की गयी है।

प्रवासन सिर्फ एक भौतिक और भौगोलिक प्रक्रिया ही नहीं है अपितु प्रवासन के दौरान संस्कृतियों, समाजों और भाषाओं का भी स्थान परिवर्तन होता है। इस प्रक्रिया में यह जाहिर है कि मेजबान समाज की संस्कृति के तत्व प्रवासित समाज की संस्कृति पर प्रभाव डालेंगे और उससे प्रभावित होंगे। इसी प्रक्रिया को भाषा के सन्दर्भ में समझने का प्रयास एन. जयराम ने अपने लेख में किया है जहाँ वे त्रिनिदाद में भारतीय डायस्पोरा के सन्दर्भ में भोजपुरी और हिंदी भाषा की समीक्षा करते हैं। इस लेख के माध्यम से जयराम ने (द डाइनामिक ऑफ लेंग्वेज इन इंडियन डायस्पोराः द केस ऑफ भोजपुरी/हिंदी इन त्रिनिदाद) अनुबंध श्रमिकों द्वारा त्रिनिदाद में लाई गयी भारतीय भाषा के तत्वों को और उनमें आने वाले बदलावों को समझने का प्रयास किया है। इसके साथ-साथ वे इस बात की भी चर्चा करते हैं कि किस प्रकार से वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भारतीय अपनी भाषा के सन्दर्भ में भाषागत तत्वों को पुनः प्रचलित और पुनर्जीवित करने का प्रयास कर रहे हैं।

डायस्पोरा निर्माण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत विभिन्न संस्कृतियाँ, मूल्य, समाज, जातियां, नस्लें इत्यादि एक दूसरे के संपर्क में आती हैं। कई बार इनके बीच समन्वय स्थापित होता है और कई बार यह एक द्वन्द की स्थिति पैदा करते हैं। इसी प्रक्रिया को तुलनात्मक रूप से समझने के लिए रवीन्द्र के. जैन ने (रेस रिलेशंस, एथनिसिटी, क्लास एंड कल्चरः ए कम्पेरिसन ऑफ इंडियंस इन त्रिनिदाद एंड मलेशिया) त्रिनिदाद और मलेशिया के भारतीयों का तुलनात्मक अध्ययन किया और यह जानने का प्रयास किया कि किस प्रकार से यह सांस्कृतिक, और प्रजातीय तत्व आपस में अंतःक्रिया करते हैं। अपने लेख में वह भारतीय डायस्पोरा से जुड़े सांस्कृतिक अस्मिता के प्रश्न को तुलनात्मक रूप से देखने का प्रयास करते हैं। यह अस्मिता जातीयता, नस्ली सम्बन्ध और वर्ग जैसे महत्वपूर्ण आयामों द्वारा परिभाषित होती है। वह इस प्रश्न का भी विश्लेषणात्मक उत्तर देते हैं कि क्या भारतीय डायस्पोरा की अस्मिता के सन्दर्भ में वर्ग एक निर्धारक अवधारणा है अथवा नस्ल और जातीयता अधिक महत्वपूर्ण है? इसी क्रम में एस. आर. मेहता अपने लेख में (द 'इनक्लूजन' ऑफ इन्डियन इमिग्रेंट्स इन मॉरिशस) मॉरिशस में प्रवासित भारतीयों के सन्दर्भ में यह जानने का प्रयास करते हैं कि भारतीयों का मॉरिशस के सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनैतिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य में किस हद तक हुआ है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु वे एलिक्जेंदर के बहुआयामी मॉडल का उपयोग करते हैं। इसी प्रकार योगेश अटल (आउट-साइडर्स एस इन-साइडर्सः द फिनोमेना ऑफ सेंडविच कल्चर- प्रेफेतोरियल टू ए पोसिबिल थ्योरी) ने सामाजिक-सांस्कृतिक समावेशन को की अवधारणा के अंतरग को समझने का प्रयास किया है। उनके अनुसार यह मिश्रित संस्कृति विभिन्न स्तरों पर पाई जा सकती है जैसे राष्ट्र के स्तर पर जहाँ विभिन्न संस्कृतियों के मिश्रण से एक मिश्रित संस्कृति का जन्म होता है। उदाहरण के तौर पर वे थाईलैंड की संस्कृति की चर्चा करते हैं और बताते हैं कि कैसे थाईलैंड में भारतीय और चीनी सभ्यताओं की झलक मिलती है जो इन दोनों संस्कृतियों से मिलकर बनी होती है। थाईलैंड की भाषा और धर्म भारतीय सभ्यता के प्रभाव को दर्शाती है जबकि वहां की वेश-भूषा, खान-पान चीनी सभ्यता की झलक देते हैं।

यह पुस्तक इन्ही मिले-जुले भारतीय डायस्पोरा से सम्बंधित महत्वपूर्ण आयामों पर प्रकाश डालती है। इसके साथ-साथ यह एक ऐसे अकादमिक संसाधन के रूप में भी देखी जा सकती है जिसके माध्यम से डायस्पोरा और विशेष रूप से भारतीय डायस्पोरा पर हुए शोध के बारे में ज्ञात होता है। भारतीय डायस्पोरा पर एक विस्तृत सन्दर्भ सूची इसी बात का प्रमाण है। भारतीय डायस्पोरा के सन्दर्भ में यह एक ऐसी प्रतिनिधि पुस्तक के रूप में देखी जा सकती है जिसमें इस क्षेत्र से जुड़े दिग्गज विद्वानों द्वारा महत्वपूर्ण पहलुओं पर चर्चा की गयी है। यह जाहिर है कि किसी एक पुस्तक में किसी विषय से सम्बंधित संपूर्ण ज्ञान का समावेशन नहीं किया जा सकता परन्तु फिर भी इस पुस्तक के माध्यम से पाठक को भारतीय डायस्पोरा से सम्बंधित व्यापक और महत्वपूर्ण जानकारी और शोध की दिशा का ज्ञान हो जाता है। भारतीय समाज एवं संस्कृति में रुचि रखने वाले सभी लोगों के लिए यह एक महत्वपूर्ण पुस्तक है।

समाज चर्चा

स्वर्ग के बच्चे, चिता के बच्चे

■ **रामशरण जोशी**

पिछले वर्ष निजी यात्रा पर मैं कनाडा और अमेरिका गया हुआ था। साथ में पत्नी थी, और समय था। समृद्ध व उपभोक्तावादी समाज को समीप से देखा, बैठे-ठाले फिल्में, डॉक्यूमेंट्री देखीं अनेक। इस माध्यम से अपने-पराये समाजों, वर्तमान और अतीत में झांकने का अवसर मिला। जब यह सिलसिला शुरू हुआ तो स्वर्ग को धरा पर उतारने का 'चिर स्वप्न' मस्तिष्क पर थापें सुनाई देने लगा। कुछ नये अनुभव हुए। इस कॉलम में मैं थोड़ा-बहुत आपके साथ शेयर करना चाहता हूं। चंद चुनिंदा फिल्मों और वृत्तचित्रों के प्रभाव क्या पड़े इनकी चर्चा यहां करूंगा। इसके लिये तीन फिल्में: 'स्वर्ग के बच्चे, ''सुरैया व पट्टीदार का संगसार (दोनों ईरानी) और 'बालक पाजाम (यूरोपीय) तथा एक वृत्तचित्र 'चिता के बच्चे' (भारत) चुने हैं।

सबसे पहले हम धार्मिक क्रांति के प्रतिनिधि राष्ट्र राज्य ईरान में मौजूद जन्नत के दर्शन करते हैं। करीब तीन दशक पहले अमातुल्ला खौमेनी के नेतृत्व में ईरान में क्रांति हुई थी। इस क्रांति ने साम्राज्यवादी अमेरिका समर्थक शासक शहंशाह रजा पहलवी की वर्षो पुरानी शासन व्यवस्था को उखाड़ फेंका था, यूरोपीय जीवन शैली ने अभ्यस्त मुस्लिम समाज को बदल कर रख दिया और मुल्ला शासकों ने जन्नत को ईरान की सरजमीं पर उतारने का वादा किया। उपभोक्ता-वादी संस्कृति में डूबे मुस्लिम समाज का कायाकल्प किया गया। हर ईरानी के दरवाजे पर जन्नत उतरे इसके लिये मजहबी या ईस्लामी हुकूमत ने बेशुमार कानून बनाए। इसके बाद क्या हुआ, इसका जवाब ये दो फिल्में देंगी।

स्वर्ग के बच्चे : यह फिल्म करीब डेढ़ घंटे की है। इसमें एक निर्धन परिवार के दो स्कूली बच्चों (भाई और बहन) और जूतों के माध्यम से मजहबी राज्य और समाज की बड़े महीन ढंग से परत-दर-परत उघाड़ी गई है। असल में इस फिल्म का शीर्षक ही इस्लामी राष्ट्र राज्य पर व्यंग्य है। 'स्वर्ग के बच्चे' का शीर्षक दर्शकों को यह सोचने के लिये विवश कर देता है कि क्या धार्मिक क्रांति स्वर्ग को धरा पर उतार सकी? क्या उत्तर रजा पहलवी ईरान में विषमता, निर्धनता और विद्रूपताएं मिट सकीं? क्या वर्ग अंतर्विरोधों का समाधान किया जा सका है? 'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग करके इस फिल्म में धार्मिक ईरानी हुकूमत के विरोधाभासों को बड़ी मार्मिकता के साथ चित्रित किया गया है।

ईरान के माजिद माजिदी द्वारा लिखित व निर्देशित यह फिल्म घनी व तंग बस्ती में हाशिये पर जीने वाले परिवार पर केन्द्रित है। कहानी के पात्र परिवार का मुखिया एक बेरोजगार अधेड़ है, पत्नी घरबार सम्भालती है व साथ में बच्चा है, और दो स्कूली पुत्र एवं पुत्री हैं। वास्तव में यह कहानी इन दोनों स्कूली बच्चों और उनके स्कूल ड्रेस के जूतों के इर्द-गिर्द घूमती है। बेटे को दौड़ प्रतियोगिता में शामिल होना है लेकिन इसके लिये उसे नये व साबुत जूते चाहिए। उसके मौजूदा फटे जूते उसके परिवार की जीती-जागती कहानी हैं। वह कभी अपनी बहन के जूतों से चोरी-छिपे काम चलाता है। वे भी फट जाते हैं। प्रतियोगिता निकट आने लगती है। पिता नये जूते खरीदने के लिए काम की तलाश में जुट जाता है। काफी जद्दोजहद करता है। पिता-पुत्र के संघर्ष को देखकर इटली की विश्व चर्चित मूवी-'बाईसिकिल थीफ' के दृश्य याद आ जाते हैं। मनुष्य की हताशा, निराशा, वैषम्य, संत्रास, विलगाव, अंतहीन त्रासदी आदि के दृश्यों की फिल्म दिमाग में चलने लगती है। लेकिन, इसके साथ ही बाप-बेटे और पुत्री उल्लास व जिजीविषा का 'मोंटाज' भी मस्तिष्क पर दमकता है। तंग, संकरी, अंधेरी, घुमावदार और गंदगी से बजबजाती गलियों को पार करता हुआ यह लड़का दौड़-प्रतियोगिता को अव्वल स्थान से जीत लेता है और पुरस्कार स्वरूप उसे नये कीमती जूते मिलते हैं।

वास्तव में यह कहानी स्कूल बालक, जूता और दौड़ प्रतियोगिता की नहीं है बल्कि धर्म, व्यवसाय- परिवर्तन, समाज स्थिति और भ्रम व यथार्थ के बीच त्रिशंकु बने हाशिये की मानवता (लोगों) का यथार्थवादी सिनेमा है। जूता और प्रतियोगिता एक प्रकार के रूप हैं जो कि पारम्परिकता धार्मिकता, और आधुनिक चेतना व उपलब्धियों के बीच व्याप्त द्वंद्वों को कलात्मक ढंग से उघाड़ते है। समृद्धि व निर्धनता की मौजूदगी, से फिल्म एक मौजूद विमर्श को जन्म देती हैं : क्या अमातुल्ला खौमेनी के नेतृत्व में हुई मजहबी क्रांति ने अल्लाह के बंदों के लिये ऐसी ही जन्नत रची थी?

सुरैया का संगसार : क्रांति के पश्चात् ईरान की धार्मिक व्यवस्था औरतों को जन्नत जैसा समाज जिन पर बख्शेगी, इस उम्मीद को चिढ़ाती है सुरैया के संगसार की दारुण गाथा। सीरूस नोवरेस्तेह् द्वारा निर्देशित और बेस्टी गिफ्फेन व नोवरे स्तेह द्वारा लिखित इस अत्यंत संवदेनशील फिल्म में ग्रामीण ईरान की एक विवाहित युवती जमीन में कंधों तक ग्रामीण जगह गाड़ कर, फिर उसे पत्थर फेंक-फेंक कर (संगसार) मृत्यु-दण्ड देने की विभीषिका को चित्रित किया गया है। यह अत्यंत हृदय विदारक दृश्य है और यह उन तमाम सभ्यताओं, धर्मों और व्यवस्थाओं पर तमाचा है जो स्त्री अस्मिता, स्त्री गरिमा और स्त्री मुक्ति व समानता के आसमानी दावे करती रही हैं, और आज भी करती है।

कहानी कुछ वर्ष पहले की है। धार्मिक राज्य ईरान के एक गांव में एक विवाहिता पर परपुरुष के साथ संबंधों की तोहमत लगाई जाती है। विवाहेतर संबंध किसी कुफ्र से कम नहीं है, धर्म और राज्य दोनों की नजरों में यह अक्षम्य अपराध है। स्त्री ही इसके लिए जिम्मेदार मानी जाती है। इस्लामी कानून में ऐसे अपराध की सजा है 'संगसार'।

प्रख्यात मीडिया विश्लेषक और समाज शास्त्री। कई संस्थानों में महत्वपूर्ण जिम्मेदारी निभाई। कई पुस्तकें प्रकाशित। फिलहाल बोस्टन (अमेरिका) में हैं।
संपर्क : 13177033580

सुरैया नाम की इस औरत को परपुरुष के साथ अवैध यौन संबंध रखने के अपराध में पत्थर फेंक फेंक कर मारे जाने की सजा का सामना करना पड़ता है। जब यह घटना घटी थी, दुनिया भर ने ईरान की मजहबी हुकूमत से सुरैया को क्षमादान की अपीलें की थी लेकिन खोमैनी के उत्तराधिकारियों ने 'संगसार' करके ही दम लिया था।

वास्तव में यह फिल्म 'सुरैया का संगसार' प्रचारित सत्य से नितान्त भिन्न यथार्थ को उद्घाटित करती है। यह खोजी पत्रकारिता का दुस्साहसिक उदाहरण भी है। एक खोजी पत्रकार भटके हुए यात्री के रूप में घटनावाले गांव में पहुंच जाता है। सुरैया की मां तथा अन्य करीबी लोगों से संपर्क कर तथ्य एकत्रित करता है। तथ्यों से पता चलता है कि सुरैया के पति का संबंध किसी दूसरी औरत से था। वह तलाक चाहता था लेकिन सुरैया ने मना कर दिया। उसके दो बच्चे थे। पति सुरैया से पिंड छुड़ाने के लिए षडयंत्र रचता है। इस षडयंत्र में गांव के धार्मिक नेता के साथ-साथ सरकारी अफसरों को भी शामिल कर लेता है। उन्हें भारी घूस, तोहफे दिये जाते हैं। पहले सुरैया पर विभिन्न प्रकार से तलाक देने के लिये दबाव डाला जाता है। उसे लालच दिया जाता है लेकिन वह झुकने से इनकार कर देती है। अंततः पुरुष-द्वारा उसे जमीन में जिंदा गाड़कर पत्थरों से मारने का हुक्म सुनाया जाता है। सबसे पहले उसका पति, बच्चे और अन्य सगे- संबंधी उस पर पत्थर फेंकते हैं। उस व्यक्ति पर भी पत्थर मारने के लिए दबाव डाला जाता है जिसके साथ नाजायज संबंध रखने का आरोप मढ़ा गया था। चूंकि आरोप झूठा था इसलिए वह शख्स अपने बच्चे के साथ घटना- स्थल से चला जाता है। खोजी पत्रकार ने तथ्यों को जुटाया। सुरैया की मां का इंटरव्यू रिकार्ड किया और कहानी के टूटे तारों को जोड़कर सुरैया की 'संगसारी' की असली दास्तान को खूबसुरती के साथ फिल्म में ढाल दिया। पुरुष-वर्चस्ववादी समाज, धर्म प्लस धन प्लस सत्ता का गठबंधन और आधुनिकता की छाती पर मध्ययुगीनता के नगाड़ों की आवाजें फिल्म में आरम्भ से अंत तक पसरी हुई हैं। शायद स्वर्ग के बच्चे और सुरैया की रूह किसी नये खुदा की तलाश में हैं ताकि कोई नया निजाम उनके साथ इंसाफ कर सके।

बच्चा ओर पहीदार पाजाम :- वैसे तो यह फिल्म हिटलर के दौर की है, फासीवाद-नाजीवाद की नस्ल विभीषिका पर आधारित है। पर इसकी विशेषता इसकी राजनीतिक पृष्ठभूमि नहीं है। इसकी अप्रतिम विशेषता है दो परस्पर विरोधी नस्ली बच्चों के बीच अंकुरित अबोध प्यार वाली दोस्ती। और दोस्ती का मूल्य है प्राणों का उत्सर्ग। मार्क हरमेन के निर्देशन में बनी और जोन बोन द्वारा लिखित यह कहानी नौ-दस वर्षीय बच्चे की सहज व निर्मल मित्रता को चित्रित करती हुई बहुत कुछ कह जाती है; नस्ली श्रेष्ठता व वर्चस्वताः नस्ली घृणा, व जनसंहार, और प्रतिशोध, पश्चाताप तथा प्राकृतिक न्याय। मुख्तसर में कहानी यूं है। हिटलरी आर्मी के एक आला अफसर को यातना शिविरों (गेस चेम्बर) में बंद हजारों यहूदी बंदियों को यो जनाबद्ध ढंग से मौत की नींद सुलाने का काम सौंपा जाता है। वह एक बड़े शहर से तबादले पर है, ओर उसके साथ है पत्नी, पुत्री और पुत्र। सैनिक अफसर का सरकारी बंगला यातना शिविर से लगा हुआ है। एक रोज उसका बेटा घर से निकल कर यातना शिविर के पास पहुंच जाता है जिसके चारों ओर कांटेदार तार लगे हुए हैं। उसे उत्सुकता होती है। वह दूर से पट्टीदार ड्रेस में यहूदी बंदियों को देखता है। आठ-नौ साल का एक बालक बंदी उसकी तरफ आता है लेकिन दोनों के बीच कांटेदार तारों की बाड़ होती है। दोनों दूर से ही 'हेलो' करते हैं। यह 'हेलो' धीरे धीरे मित्रता में बदलती रहती है। सैनिक का बेटा उसे केक और दूसरे तोहफे देता रहता है। बंदी बालक को अफसर के घर साफ-सफाई के लिये भी लगाया जाता है एक रोज शुद्ध आर्य नस्ल का बालक अधम नस्ल के यहूदी बालक से उसका शिविर देखने की इच्छा व्यक्त करता है। दोनों चुपचाप बाड़ के नीचे गड्डा खोदकर भीतर जाने का मार्ग बना लेते है। यहूदी बालक अपने दोस्त को अपनी जैसी पट्टीदार बंदी पोशाक देता है ताकि वह उन्हें पहन कर शिविर के भीतर आ सके। सैनिक अफसर का पुत्र अपने कपड़ों को उतार कर बंदी पोशाक पहन लेता है और अपने यहूदी बंदी मित्र के समान लगने लगता है। सैनिक पुत्र अपने कीमती कपड़ों को गड्ढे के पास छोड़ कर यातना शिविर में दाखिल हो जाता है। दोनों शिविर में घूमते हैं। अफसर का पुत्र खुश है लेकिन इसी बीच बंदियों को बैरकों में से निकाल कर गैस चेम्बरों में ठूंसने का आदेश दे दिया जाता है। दोनों बालकों को भी चेम्बर में बंद कर दिया जाता है। दोनों ही अंजाम से अनजान हैं। दोनों को पहले लगता है कि बारिश होने वाली है इसलिए सभी को चैम्बर में बंद किया गया है। सैंकड़ों यहूदी इस विशाल चैम्बर में बंद हैं, सभी उम्र के। फिर धीरे-धीरे गैस छोड़ी जाती है। दम घुटने लगता है। परस्पर शत्रु नस्लों के बच्चे एक-दूसरे से चिपक जाते है। चीखते-चिल्लाते हैं। रोते हैं, फिर धीरे-धीरे सन्नाटा पसर जाता है।

दूसरी तरफ आर्य नस्ल का सैनिक अफसर अपने बच्चे की तलाश में बदहवास सा हो जाता है। वह अपने अधीनस्थों को चारों तरफ दौड़ाता है। सभी लोग खोजते हुए उस स्थल पर पहुंचते हैं जहां बच्चे के कपड़े पड़े हुए थे और कंटीले तारों के नीचे से भीतर जाने के लिए गड्डा खुदा हुआ था। सैनिक अफसर चीखता है। सभी लोग गैस चेम्बर के गेट तक पहुंचते हैं। तब तक बहुत देर हो चुकी होती है। इसी अफसर के आदेश से निश्चित दिन चैम्बर में गैस छोड़ी जाती थी। आज भी उसी ने आदेश दिये थे। अफसर और उसके परिवार के सदस्यों की आंखों में दोनों बालकों की सूरतें तैरने लगती है। वे दृश्य याद आने लगते हैं जब बंदी बालक उनके घर में काम करने आया करता था। किस प्रकार से उनका बेटा चोरी-चोरी यहूदी बालक से मिला करता और उसे खाने की अच्छी अच्छी चीजें दिया करता।

फिल्म में निर्देशक ने विचारधारा का शोर मचाए बगैर बच्चों के माध्यम से सब कुछ कह दिया है-नस्ल का यथार्थ व खोखलापन, आत्मग्रासी श्रेष्ठता, नस्ली विभीषिका के मध्य विपरीत ध्रुवों पर स्थित निर्मल मानव संबंधों की अनंत संभावना।

चिता के बच्चे : इस वृत्तचित्र में काशी से दूर काशी के उन बच्चों के दर्शन किये जो गुमनामी में पैदा होते हैं, गुमनाम रहकर चिता सजाते हैं- जलाते हैं, और गुमनामी में विभिन्न रोगों की जकड़ में मर जाते हैं। निर्देशक राजेश जलाल ने इस वृत्तचित्र के माध्यम से ऐसी दुनिया को बेपर्दा किया है जो पाखंड, कर्मकांड़, छूत-अछूत, अमानवीकरण, आत्मकेन्द्रिता, पर उदासीनता, संवेदनहीनता में सनी हुई है। 1972 से मैं इन घाटों को देख रहा हूं लेकिन मणिकर्णिका, हरिश्चन्द्र घाटों के ये बालक कैसे आंखों से ओझल रहे मैं कह नहीं सकता। शायद मेरे पूर्वाग्रही मन-आंखों ने मुझे इनसे दूर रखा हो। खैर। इस वृत्तचित्र ने मेरी आंखों पर पड़े जालों को जरूर साफ किया।

निर्देशक जलाल चिता-कर्म से जुड़े चंद बच्चों के जीवन में धीरे-धीरे उतरते जाते हैं। उनके मस्तिष्क को झकझोरते हैं, मन की थाह लेते हैं, उनके और समाज के संबंधों को सामने लाते हैं, उनमें नागरिकता के बोध को पकड़ने की कोशिश करते हैं, जीवन-मृत्यु और शव व चिता के साथ उनके संबंधों की बारीकियों को आंकते हैं। हाशिये के समाज के इन बच्चों में संवेदनशीलता है, हृदयविदारक अनुभवों की गूंजें हैं, अभिशप्तता है, और विकल्पहीनता या नियतिवाद है। शव स्वामियों (परिजन) का इन बालकों के प्रति केवल 'यूज एण्ड थ्रो' जैसा व्यवहार होता है। ये भी घृणा के साथ 'अपना भाग' समझ कर विषपान करते रहते हैं। यह अलग बात है इन्हें 'नीलकंठ' का दरजा नहीं मिलता। शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, स्वच्छ जल-वातावरण-सभी का इनसे बैर है। अलबत्ता, शव व चिता के साथ इनकी मारी-दुश्मनी रहती है, चंद बरस जीवित रहने के लिए। फिर से उसी चिता में समा जाते हैं जिसे वे जीवन-पर्यन्त सजाते आए हैं। उनकी चिता किस घाट पर सजेगी, वे अनभिज्ञ हैं।

मेरी शाम

जो बच गया हूँ ,वह हूँ

■ **कुमार अम्बुज**

जीवन की स्मृतियों में से शामों को याद करना और किसी सिलसिलेवारनुमा ढंग से उनमें पुर्नप्रवेश करने की कोशिश नामुमकिन सी कवायद है। यह एक साथ किंचित खुशी, अनंत अवसाद, ढलती लालिमा और असमाप्य उदासी की सुरंग में धँसने जैसा भी है। सारी शामें एक-दूसरे में बेतरह उलझी हुई हैं। उन्हें सुलझाया भी नहीं जा सकता। न उनमें से किसी एक को स्मृति या उदाहरण की तरह उठाया जा सकता है।

घटनाओं का विवरण देना एक तरह की कथात्मकता में जाना है, जिससे मुझे परहेज है। जैसे हम अपने शब्दों की, अपने अनुभवों की पुष्टि के लिए मोहताज हों।

यहाँ एक शाम का जिक्र भी बहुवचनीय है।

जनबाहुल्यता और एकाकीपन, बचपन और किशोरावस्था, युवावस्था और अधेड़ जीवन की अठारह हजार विस्मृत सी, अधिकांश धुँधली शामों से सिर्फ एक नाजुक कोलॉज बनाया जा सकता है। जो मामूली स्पर्श से भी बिखरकर एक नया कोलॉज बन जाएगा। जैसे कोई कैलाइडोस्कोप। जरा हाथ लगाया या घुमाया तो नितांत एक नयी आकृति और नया संयोजन।

ऐसी स्मृतियों पर कविता लिखना कहीं अधिक उपयुक्त लगता है। जहाँ छलाँगें संभव हैं, दो स्मृतियों के बीच की पंक्तियों में अपार चहलकदमी मुमकिन है और जहाँ बिना किसी योजना के, किसी भी शब्द और खोखल में शामें बिताई जा सकती हैं, जहाँ अनायास और सायास में कोई फर्क नहीं है, जहाँ सहज ही प्रस्तुत वर्तमान और सुदूर अतीत के असंभव छोरों को मिलाया जा सकता है। पिछले पच्चीस सालों में कुछ कविताएँ इस विषय पर लिखी हैं और यह गद्य बिना उन कविताओं के अधूरा ही रहेगा। और फिर आती हुई रातें, जैसे वे शाम का आँचल पकड़कर आती हैं। रातों को शामों से परे करना उन्हें अधूरेपन में देखना है। यही बात सुबहों के बारे में नहीं कही जा सकती। ये कविताएँ मुझे बेहद प्रिय हैं और एक रचनाकार के रूप में मैं जानता हूँ कि इन्हें लिखने का अनुभव कितना तकलीफदेह और प्रसन्न बना देने वाला रहा है।

मेरे लिए शामों का कोई पृथक् और स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। मेरी शामों में रातें एक अनिवार्य हिस्सा हैं। रात का प्रथम प्रहर मेरी शामों में हमेशा शामिल है। इसलिए मेरी संध्याएँ कम से कम चार घंटों की होती हैं। कई बार ये शामें छह घंटों तक की हो सकती हैं। इसलिए मैं शामों को अपनी रातों के साथ ही याद कर पाता हूँ। नक्स-वोमिका के मरीजों के एक खास लक्षण की तरह मेरी सुबहें आलस्य से भरी रहती हैं और शाम आते-आते मैं पूरी तरह चैतन्य हो जाता हूँ। ज्यादातर शामें मेरी लिए स्फूर्ति, उत्सुकता और ऊर्जा से भरी होती हैं। शायद बहुत लोगों के लिए सुबहें ऐसी ही होती हों। बहरहाल।

धूल उड़ रही है। गोधूलि।

घरवालों की आवाजों से गली भर गई है। वे चाहती हैं कि सारे खेल बंद करके, सारी गपशप बंद करके बच्चे वापस घरों के भीतर आ जाएँ। आँगन में इतने लोग हैं, इतनी आपाधापी और हाहाकार है कि घर में भीतर जाना यातना है। अपनी आजादी को अचानक खो देना है।

तो भीतर जाइए, सबको अपनी शकल दिखाइए और फिर चुपके से वापस गली में या ओसारे में आइए। लेकिन अब बाहर सुनसान है। लोग हैं लेकिन बच्चों का सुनसान है। जो जगह इतने सारे दोस्तों से, खेलों से और अजीब कारनामों से भरी हुई थी, वहाँ अब ठंडी धूल है। और अँधेरा।

फिर शुरू होती है घर के भीतर ही कोई सुनसान और एकांत खोजने की कोशिश। अकसर सफल कोशिश। बच्चों की चिंता सबको है मगर बच्चा घर में ही, यहीं कहीं है, इतने भर से काफी निश्चिंतता। उसी निश्चिंतता में से बच्चे का एकांत निकल आता है।

पास ही आम के पेड़ों का बगीचा है। तीन कुएँ हैं। दो सूखे।

एक में मुश्किल पानी है जिसे आसान बनाने की अनवरत कोशिश सब लोग करते रहते हैं।

एक कमरे में अनाज का ढेर है और दूसरे में भूसा ही भूसा।

ये सब बातें दरअसल जीवन की शाम के कठिन रूपक में बदलने के लिए अभिशप्त हैं।

शाम आते ही पहली मुश्किल शुरू होती है कि आखिर इस शाम का क्या किया जाए। एक खाली जगह दिखती है, निर्वात अंतरिक्ष। यदि इसे ठीक तरह की चीजों से, क्रियाशीलता से, सरगर्मियों से, वार्तालाप से, किसी अनोखी गतिशीलता से, संगीत या गोताखोरी से नहीं भर दिया गया तो यह निर्वात, यह अंतरिक्ष मुझे निगल लेगा, अपने में ही समो लेगा। और मजे की बात है कि शामें मुझे अकसर निगल लेती हैं। इस तरह मैं, हजारों शामों द्वारा उदरस्थ किया जाकर, जो बच गया हूँ, वह हूँ।

शामों में अन्यथा इतनी चहल-पहल, धूल, भागमभाग, आवाजें, धुआँ, गंध, शीत, बारिश, कीचड़, जद्दोजहद, उमस या ओस है और ढलती हुई हर क्षण कमजोर होती रोशनी है कि जितना विस्मय होता है उससे अधिक बेचैनी। इस तरह ये शामें मुझे अपने जीवन का भी श्वेत-श्याम चित्रपट जैसी लगती रही हैं।

थोड़ा सा आराम मिलता है यदि इन शामों में बाहर मैदान में जाने का मन और मौका मिल जाए। और उन्हें धीरे से रात में तबदील होता देखा जाए। शाम के धुँधलके में एक-एक करके तारों को उगते हुए देखना। फिर चाँद को खोजना। जो कभी दिखता है, कभी नहीं। जो कभी जरा सा दिखता है और कभी एकदम पूरा। फिर उस होती हुई नयी नवेली, किशोर रात्रि के रंग में रंगे हुए अपने पूरे आसपास को देखना। सब कुछ किसी रहस्य में डूबा हुआ और उसमें से उबरने की इधर-उधर दिखती छटपटाहट। कई तरह की रोशनियाँ। ज्यादातर मद्धिम। कुछ कतारबद्ध और ज्यादातर छिटपुट बिखरी हुईं।

बस, इस तरह से भी शामों को अपने ऊपर से गुजर जाने दिया जा सकता है। कभी वे रौंदती हुई चली जाती हैं और कभी नाजुक ख्यालों से लदी हुईं और भारहीन।

और एक अनंत रात मेरे सामने होती है। जो मेरे लिए शाम का ही एक बेहतर विस्तार है।

इसलिए यह अप्रत्याशित नहीं होना चाहिए कि शमशेर बहादुर सिंह की यह काव्य-पंक्ति अकसर ही संध्याओं, समय की संधि बेला में कौंधने लगती हैः 'टूट

मत ओ साँझ के पत्थर हृदय पर'

तो ऐसी भी शामें हैं जो कभी किताबों में या फिल्मों में बीत गईं। संगीत ने कुछ दूर तक सहारा दिया। जिन्होंने साँझ के पत्थर को हृदय पर गिरने से थाम लिया, स्थगित कर दिया। बेतरतीबी से और उदाहरण भर के लिए याद करूँ तो कुछ अप्रत्याशित शामें व्हिटमैन, मिवोश, अमीखाई, शिम्बोर्स्का, मुक्तिबोध और रघुवीर सहाय की कविताओं में, कुछ गोर्की की आत्मकथात्मक किताबों में, चेखव की कहानियों, 'पहला अध्यापक', 'फान्टामारा', 'बाबरनामा', 'ऑर्थर कॉनन डायल' और 'नोट्स फ्रॉम द अन्डरग्राउण्ड' में, पेसोआ की डायरी, रेणु और राग-दरबारी में भी बीत गईं।

यात्राओं, कामकाज, नींद और थकान के खाते में भी हजारों शामें हैं। करीब पाँच बरस की शामें तो पास के कस्बों से नौकरी से लौटते हुए बस में बीतीं। और वे तमाम संध्याएँ थकान, भूख और नींद के तत्वों से मिलकर बनती रहीं। लेकिन वे उबाऊ नहीं थीं। बीच-बीच में जो चैतन्य अवस्था, आलस्य में भी जो चमक रहती थी, उसमें बहुत ताकत और कल्पनाशीलता के झोंके थे। अपने जीवन की शुरुआती कविताएँ यानी लगभग डेढ़ सौ कविताएँ इन्हीं स्थितियों में, बस यात्रा में ही लिखी गईं हैं। बस की खिड़की से देखी गईं शामें, उन शामों में देखा गया कस्बों का जीवन, यात्रियों की तमाम स्थितियाँ और प्रकृति का मेल आज भी मेरी स्मृतियों का और अनुभवों का चमकदार हिस्सा है। उन रास्तों से कभी-कभार दुबारा गुजरता हूँ तो बीच के अनेक स्थल देखकर मुझे वे कविताएँ याद आती हैं जो उन जगहों या वहाँ की तात्कालिक घटनाओं से अभिन्न हो गई हैं।

जैसे ही शाम आती है, मैं लगभग अचेत और अकेला हो जाता हूँ। इस अर्थ में कि मुझे पता नहीं रहता कि मैं जीवित हूँ या मर गया हूँ। इस मायने में भी कि मुझे सूझ पड़ना कम हो जाता है और मैं अवश किसी तंद्रा की तरफ जाता हूँ और वहाँ न जाऊँ, इस उपाय में एक तरह की रस्साकशी चलती रहती है। बस की यात्राओं के बीच सर्जनात्मकता को अपवाद मान लिया जाए तो घर में रहकर या अन्य कहीं मेरे लिए किसी भी शाम में कभी लिखना-पढ़ना, खासतौर पर लिखना असंभव सा है। मैं किसी अनजाने चक्रवात में पत्ते की तरह घूमता हूँ।

थोड़ी देर में यह शाम का बगूला बैठ जाएगा और मैं भी धीरे-से एक जगह थमकर वापस अपनी डाल पर वापस लग जाऊँगा। जैसे कभी टूटा ही नहीं था, जैसे कभी किसी बगूले के साथ नाचा ही नहीं था। जैसे वह एक स्वप्न था और अब यह असल जीवन है।

कितनी सारी शामें आयोजनों में आबाद और बर्बाद हुई हैं, उनका हिसाब कौन लगाए। मेरे लिए शाम का उत्तेजक, विनाशक और सर्जनात्मक मायने सिर्फ यह है कि जब शाम में मैं अपने अतुलनीय और अनैतिहासिक एकांत में हूं, या किसी प्रिय एकाध मित्र के साथ हूँ और उस शाम का मुकाबला कर रहा हूं, कुछ इस तरह कि वह मुकाबला एक तरह के आनंद में और आत्मसंतुष्टि से भरे अवसाद में बदलता जा रहा है। मैं अकेली शामों का और अकेली रातों का ही सर्वाधिक शुक्रगुजार हूँ।

और अब ये कविताएँ, जिनके बिना (मेरे किसी गद्य के जरिए भी) नहीं जाना-समझा जा सकता और न ही मैं समर्थ हूँ कि वह सब व्यक्त कर सकूँ कि इन शामों का और रातों का मेरे साथ कैसा व्यवहार और संबंध बनता है।

एक और शाम

रोशनियों की कतारें अब मेरे भीतर हैं
कुछ उजाले बाहर छितरे हुए इधर-उधर
दिख रहे हैं बिखरे हुए फूलों की तरह
फीकी पड़ रही दिन की चादर में
एक नए रंग का पैटर्न
यह संधिकाल जहाँ एक उम्मीद मिल रही है

आर्द्रता में लिपटी हुई दूसरी उम्मीद से
एक ढलती हुई निराशा
एक युवा होती निराशा से
ऋतुओं की अंतरिम सूचनाएँ बाहर आ रही हैं
अभी-अभी दर्ज़ हुई है एक नयी ऋतु
जिसे कोई कीड़ा अपने अपूर्व राग में गा रहा है
थकान के आगे अब

रात की लंबाई का निश्चित भविष्य है
रात एक विशाल खाली पात्र की तरह आ रही है सामने
भरा जा सकेगा जिसमें आसन्न दिवसातीत
हँसी की वह लपट, लपलपाती इच्छा
और वह करुण ऊर्ध्व हूक जो उठती ही जाती थी
यह शाम घट रही है किसी भी समय के बाहर

बीत रहा है समय नश्वर
ठहरी हुई है अमर शाम की यह बेला
उदासी की बर्फ से टकराती हुई
परावर्तित होती हुई उत्सुकता के जल से
चमकती हुई आकांक्षा की आँख में
अब इसमें संगीत की जगह निकल आई है

यहाँ बजाया जा सकता है संतूर
बल्कि बजने ही लगा है वायलिन
यह जलतरंग है जो शाम की नसों में व्याप्त हो रहा है
मुझे खेद है कि इस संगीत के साक्षी हैं
भागती हुई उमस दिन भर का धुआँ
और जल्दबाज़ी के बीच मचलती हुई एक टीस
और यह शाम है कि जिसे छुआ भी नहीं जा सकता
जिसकी तसवीर खींचना नामुमकिन
इसमें रहते हुए सिर्फ़ इसे महसूस किया जा सकता है
यह शाम है एक शरण
एक उल्लास एक घर एक वास्तविक जगह
जिसकी तरफ़ लौटा जा सकता है
जैसे एक पक्षी घर की तरफ़ नहीं लौटता है
इसी शाम की तरफ़ लौटता है।

उस शाम

आकाश अपनी नीलिमा में
इतना विस्तृत था
कि मैंने अपनी मुक्ति का अहसास किया

लाल-गुलाबी रंग का वह बादल
आकाश का इतना बड़ा हृदय था
कि मुझे साथ लेकर दूर तक चलता रहा

वह शाम इतनी ममतामयी थी
कि मुझे
अपनी स्मृति की पहली गोद याद आयी

मैं बहुत देर तक लेटा रहा।

कविता के प्रतिष्ठित हस्ताक्षर। कई कविता संग्रहों के अलावा एक कहानी संग्रह भी प्रकाशित। बहुतेरे सम्मान और पुरस्कार। नौकरी से स्वैछिक रिटायरमेंट के बाद इन दिनों भोपाल में निवास।
संपर्क : 09424474678

कागज़-कलम-दवात के बहाने

मेरी टेबल

■ राजेंद्र यादव

मेरी मेज़ पर हमेशा से सिर्फ एक-दो किताबें ही रहा करती हैं। ज्यादा किताबों का ज्यादा ढ़ेर मेरी स्टडी टेबल पर रखना मुझे पसंद नहीं। जब भी मैं अपनी मेज़-कुर्सी पर लिखने बैठता हूँ तो बीच-बीच में सोचते वक्त मैं अपना पेन घुमाने लगता हूँ लिखते समय मैं अक्सर अगरबत्ती जला लेता हूँ, अगरबत्ती की महक मुझे आकर्षित करती है। या फिर मैं पाईप पीने लगता हूँ जिससे मुझे सुकून मिलता है। लिखने के लिए प्रेरित होने के माहौल की ख़ास जरूरत मुझे अब तो नहीं लगती लेकिन वर्ष 46 से लेकर 51 तक जरूर रही।

उन दिनों कवि अजीत कुमार की माताजी सुमिता कुमारी की कहानियों की किताब (जिसका नाम अब याद नहीं) मेरी मेज़ पर रहा करती थी, किताब में रोमांटिक कहानियां थी, जब भी उन कहानियों को पढ़ता था तो उसके अर्थ मुझे **इगनाइट** करते थे उन कहानियों ने जादुई स्पर्श का काम किया जो मेरे लेखन में काफी हद तक प्रेरक बना।

दिल्ली से बाहर या कहीं और जा कर लिखने या पढ़ने की मुझे कभी जरूरत नहीं पड़ी और कभी मन भी नहीं किया।

हाँ एक बार कसौली में अपने उपन्यास 'अनदेखे-अनजाने' के ड्राफ्ट जरूर तैयार किये।

अपनी स्टडी टेबल पर बैठने पर मुझे अपने प्रिय लेखक चेखव कम याद आते रहे लेकिन दोस्तोवस्की लगातार याद आते थे इसका एक बड़ा कारण भी था कि दोस्तोवस्की के लेखन में गहराई और मंथन ज्यादा घना है।

अपने लिखने के लिए मुझे किसी ख़ास सुविधा की जरूरत कभी नहीं रही लेकिन जो भी सुविधा मेरे पास थी उसका भरपूर इस्तेमाल मैंने किया और आज भी लिखने पढ़ने के लिए मुझे ख़ास माहौल की जरूरत नहीं होती। शोरशराबे में भी मैं आराम से पढ़- लिख लेता हूँ।

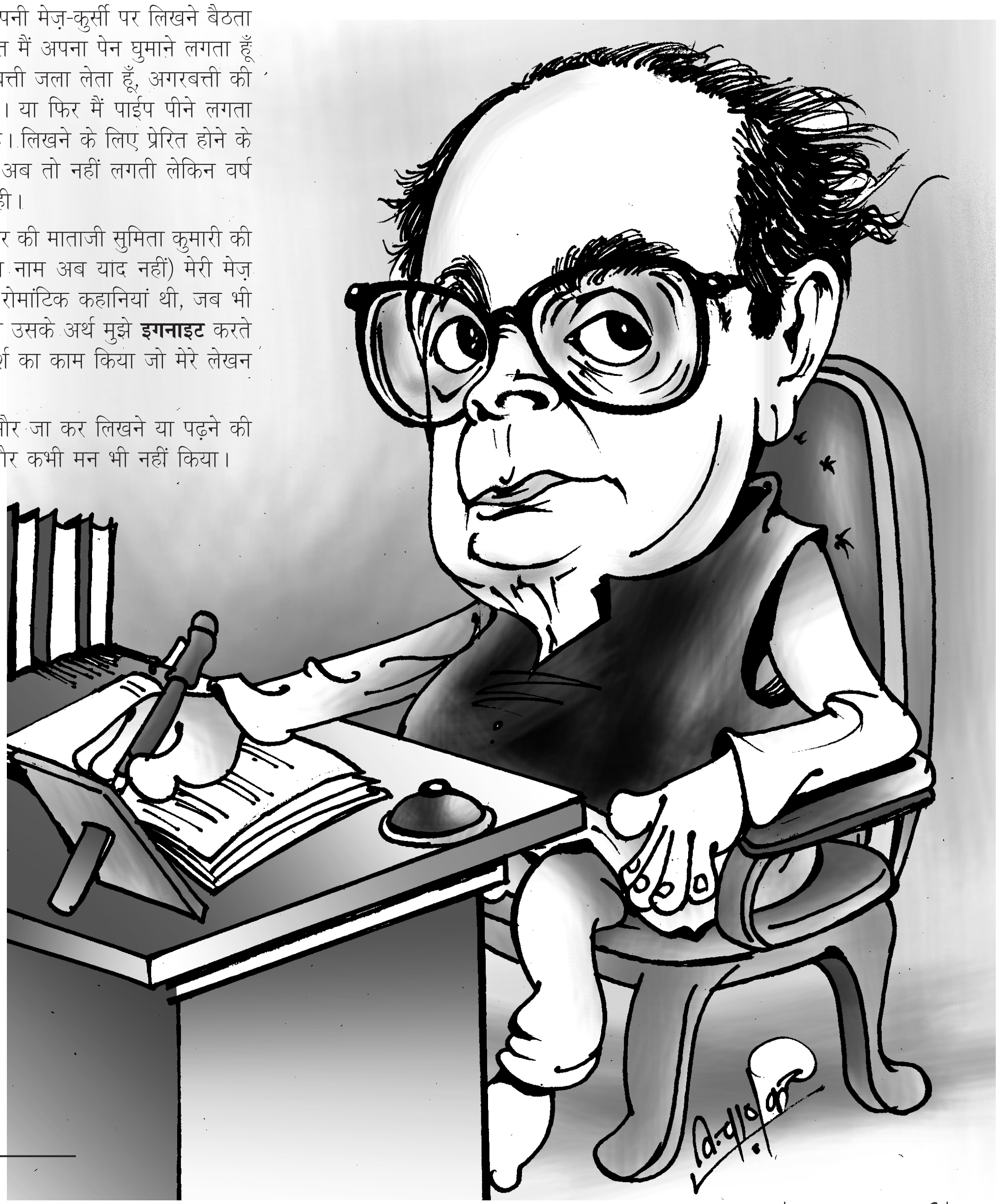

अवसान के कुछ दिनों पहले राजेंद्र यादव से विपिन चौधरी के संवाद पर आधारित

मेरा सिरहाना खाली-खाली सा है

■ अनामिका

'सिराहने मीर के आहिस्ता बोलो/अभी टुक रोते-रोते सो गया है।' किताबों से ज्यादा कौन समझेगा इस शेर का मर्म। वे तो सदा से आहिस्ता बोलती आयी हैं। इसलिए उन्होंने सिरहाना घेर लेने की छूट है। माथा पर सहलाने या नींद में भी आपसे कुछ-कुछ बतिया लेने की छूट। मैं बहुत ज्ञानी-ध्यानी तो हूँ नहीं मेरा सिरहाना खाली-खाली-सा है। इधर कुछ दिनों से और ज्यादा खाली-खाली हो गया है, पर कालजयी कृतियों की और कुछ पंक्तियां मेरे अवचेतन में रह रहकर ऐसे चमकती हैं जैसे बादलों के बीच कहीं बिजली तड़प जाए। कालिदास, कबीर, शेक्सपियर, जॉन डव, जायसी, रिल्के, लोर्का, गालिब, एमिलो डिकिन्सन, सिल्विया प्लाथ, और अपने पिता स्व. श्यामनन्दन किशोर की वे सब मार्किक पंक्तियां जो वे मुझे रात को थपकी देकर सुलाते हुए गाते थे। खासकर जब दुविधाग्रस्त होती हूं तो ये पंक्तियां मेरा रास्ता दिखाती हैं। लगता है, पिताजी लालटेन उठाए हुए सिरहाने खड़े हैं। फिर मानो नींद में चलती हुई बगल में शेल्फ से उसका 'समग्र' या 'संचयन' उठाती हैं जिसकी पंक्तियां अवचेतन में तड़पीं और कहीं से कुछ भी उठाकर पढ़ने लगती हूं, पढ़ते-पढ़ते ही बिखराव सिमटने लगता है, मन में फिर से एक धीर एकाग्रता घर करने लगती है और पचपन झमेलों के बीच भी मन मस्त हो जाता है और अकारण इसी तरह कालजयी नाटकों और कथा-साहित्य के कुछ चरित्र मेरी कल्पना के स्थायी नागरिक बन चुके हैं। मेरे अवचेतन में उनकी जो बस्ती है, उसकी बसावट 'आधा गांव' से मिलती है - सारे कोलाहल के पार कहीं चैन की वंशी बजाता है यह 'आधा गांव', अंदर कहीं एक ठस्सा है कि हम अलग होकर भी अलग नहीं, इतना कुछ साझा है हमारे बीच कि हम मिलकर जंगल में मंगल मना सकते हैं- संसार की सरहदें वहां कोई मायने नहीं रखतीं। स्वप्न में या नींद में कोई सरहद नहीं होती, चेखव, तोल्स्तोप, प्रेमचंद-यशपाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी और रेणु, ब्रेख्त और मार्खेज के चरित्र अक्सर जब सिरहाने आते हैं तो उड़ते हुए-से, काल-स्थान सब घेरे लांघते हुए-से। कभी किसी निर्णायक क्षण में कही गई उनकी कोई बात भीतर कौंधती है। कभी उनका मौन सुनाई पड़ता है और धक् से नींद खुल जाती है।

बौद्ध दर्शन, सूफी दर्शन, शैव और शाक्त दर्शन के भी कुछ भाष्यकार मुझे प्यारे लगते हैं। खासकर इकेदा, कृष्णमूर्ति और ओशो! और सामाजिक जटिलताओं के संदर्भ के लिए जिन भारतीय चिंतकों के कार्य फिलहाल मेरे सिरहाने पड़े हैं, उनमें प्रमुख हैं आशीष नंदी, सुधीर कक्कड़, जीएन देवी, अनन्तमूर्ति और राधावल्लभ त्रिपाठी। इसके अलावा राजकमल की 'प्रतिनिधि कविताएं', वाणी की 'पचास कविताएं' और किताबघर की 'कवि ने कहा' शृंखला की कविताएं तो मेरी मुंह, लगी सखियां हैं! रात जब बहुत काली होती है, ये ही देती हैं मुझे तोस-भरोस! **प्रस्तुति : अंजना बक्शी**

स्त्री विमर्श और कविता में प्रतिष्ठित नाम। कई पुस्तकें प्रकाशित। दिल्ली में अध्यापन। संपर्क : 09810737469

पढ़ते हुये

■ अखिलेश

इन दिनों

हाल ही में हबीब तनवीर की आत्मकथा अंग्रेजी में अनुवाद होकर मेमोयर्स के नाम से आयी है। किताब में हबीब तनवीर बहुत ही खूबसूरती से अपनी यादों के उन उजले पक्षों में भटकते नजर आते हैं, जिसकी कालिख ने हबीब को हबीब बनाया है।

ओरहान पामुक के दो उपन्यास 'स्नो' और 'म्यूजियम ऑफ इनोसेन्स' पढ़ते हुए [illegible] दुर्लभ होती जा रही है, यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं हो रहा है। अपने उपन्यास 'हाउस फॉर मिस्टर विश्वास' में वी.एस. नॉयपाल जिस तरह अकल्पनीय वर्णन में जाते हैं, वह एक दूसरे तरह की कल्पनाशीलता है--उनके उपन्यास में वर्णन के विस्तार का आनन्द है। कवि कमलेश ने यह उपन्यास देते वक्त कहा- "इस सदी के सबसे बड़े लेखक वी.एस. नॉयपाल ही हैं।"

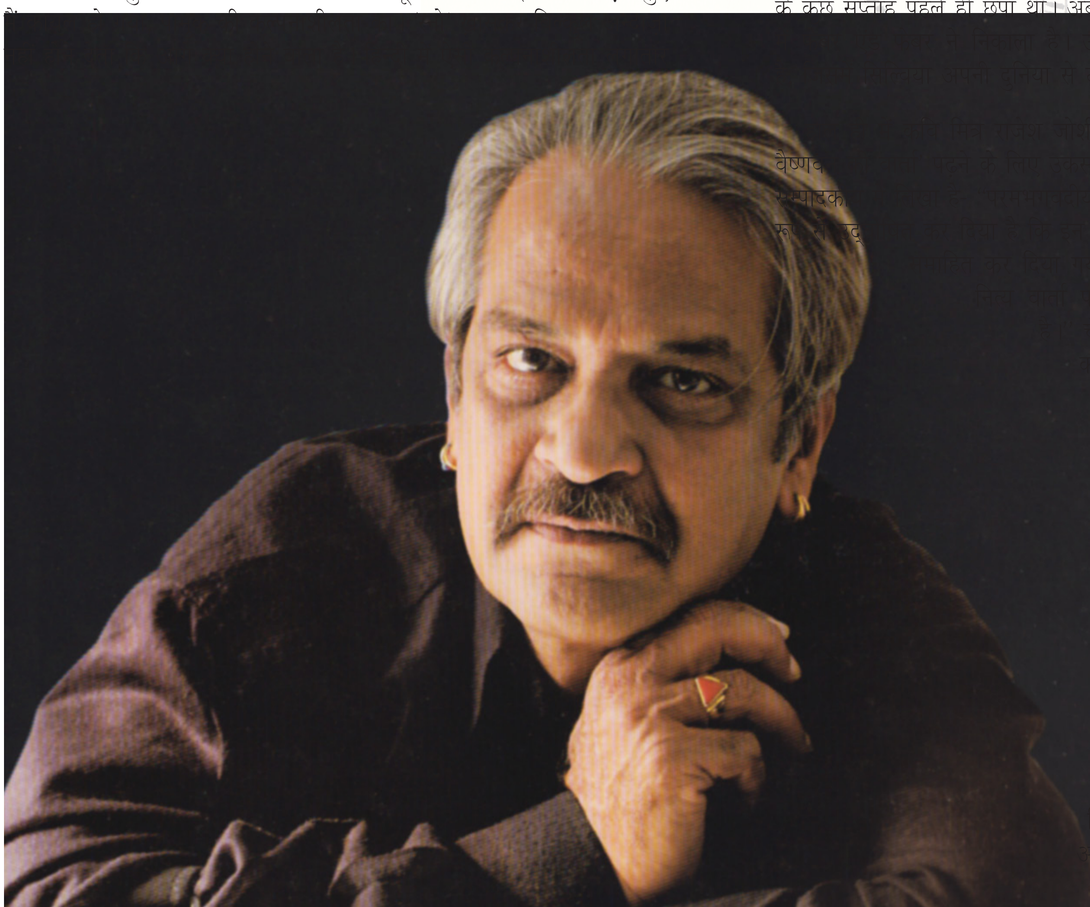

कवि-मित्र शिरीष ढोबले ने पिछले दिनों अमेरिकी कवि सिल्विया प्लॉथ का एकमात्र उपन्यास 'द बेल जार' दिया, उसे भी पढ़ रहा हूँ। यह उपन्यास पहले 1963 में छद्म नाम से उनके द्वारा आत्महत्या करने के कुछ सप्ताह पहले ही छपा था। अब इसका पेपरबैक संस्करण 2012 [illegible] फेबर ने निकाला है। उपन्यास कुछ-कुछ आत्मकथात्मक [illegible] सिल्विया अपनी दुनिया से टकराने की यादों में घूम रही है।

[illegible] कवि मित्र राजेश जोशी ने उनके जन्मदिन पर 'चौरासी वैष्णव [illegible] वार्ता' पढ़ने के लिए उकसाया : यह किताब मेरे हाथ में है। सम्पादक [illegible] लिखा है- "परमभगवदीय कविवर श्री दयाराम ने तो स्पष्ट रूप से उद्[illegible] कर दिया है कि इन वार्ताओं में समस्त तत्त्वों का सार [illegible] समाहित कर दिया गया है जिनकी सहज प्राप्ति केवल [illegible] नित्य वार्ता पाठ करने मात्र से ही हो जाती है।" चूँकि इन वार्ताओं में समस्त तत्त्वों [illegible] का सार है, अतः इनका पाठन भी [illegible] धीरज की माँग करता है।

भोपाल के दो कहानीकार कुमार अम्बुज और उर्मिला शिरीष के दो कहानी संग्रह 'इच्छाएँ' और 'ग्यारह लम्बी कहानियाँ' भी पढ़ रहा हूँ। इन कथा-संग्रहों में कुमार की कहानी 'माँ रसोई में रहती है' और उर्मिला जी की कहानी 'चीख' बेहतर कहानियाँ हैं। अन्य कहानियाँ भी हैं, किन्तु मेरे पाठकीय मिजाज के छोटे से दायरे में नहीं [illegible] पाती हैं।

समकालीन भारतीय कला जगत के अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सुपरिचित चित्रकार। मकबूल फिदा हुसैन की जीवनी के अलावा कई कला पुस्तकों का लेखन। साहित्य और मोजार्ट के संगीत में विशेष रूचि। भोपाल में रहते हैं।
संपर्क : 09425301956

■ बसंत त्रिपाठी

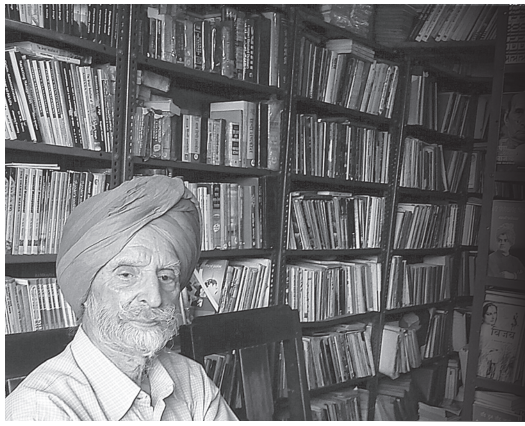

मेरी प्रिय दुकान

नागपुर की व्यस्त सड़क के किनारे लगभग सत्तर साल पुरानी इमारत .. पलस्तर उखड़ी हुई रंग रोगन भी न जाने कब हुआ था.. अब तो बस धब्बों के रूप में कुछ निशान बचे हैं। इस चार मंजिली इमारत का नाम है धनवटे चैंबर्स। मुख्य दरवाजा जालीदार लकड़ी का है। उसके पीछे एक जीना। जीना चढ़कर दूसरी मंजिल में पहुँचने के बाद गलीनुमा सँकरा बरामदा पार करते हैं। उसके बाद एक अँधेरे से गुजरकर जब आप इमारत के दक्षिणी हिस्से में पहुँचते है तब आपको कुछ हलचल दिखाई पड़ती है। आपको लगता है जैसे आप मुक्तिबोध की कहानी ब्रह्मराक्षस की शिष्य के शिक्षार्थी हों और छहः मंजिल की भुतही सीढ़ियों के बाद साफ-सुथरी मंजिल में खड़े हों। अब आप एक दुकान के सामने हैं। आपकी नज़र रघुवीरसिंह खन्ना जी और पुस्तकों पर एक साथ पड़ती है। यदि यहाँ आप अजनबी हैं तो एक विन्रम मुस्कुराहट के साथ स्वागत किए जाएँगे और परिचित हैं तो गर्मजोशी से। और आप एक पचास साल पुरानी दुकान में दाखिल होते हैं।

पुरानी मेज, पुरानी कुर्सी, पुराने रैक ओर उस पर सजी और ठुसी हुई किताबें। खन्नाजी ग्राहकों की ओर वाली कुर्सी में बैठे हैं। मैनेजर यादव जी दुकान वाली कुर्सी पर। खन्नाजी इस दुकान के मालिक हैं। दुकान का नाम है 'पुस्तक संसार'। इसके अलावा हिंदी मराठी प्रकाशन, विश्वभारती प्रकाशन, प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स का काम भी यहीं है। खन्नाजी प्रकाशक भी है। मुक्तिबोध की शुरूआती किताबें उन्होंने ही छापी थीं। क्रांतिकारियों के जीवन से जुड़ी कई किताबें खन्नाजी ने छापी है और लगातार छाप रहे हैं। निराला लीडर प्रेस से छपी अपनी किताबों का सर्वाधिकार उन्हें ही सौंपना चाहते थे।

किताबों की चाहत वाले दुकान के भीतर बिछी कुर्सी में बैठ जाते हैं। आप जिस कुर्सी में बैठे हैं उस पर कभी मुक्तिबोध बैठे थे, परसाई बैठे थे, शिवशंकर, विजय कुमार सिन्हा, कुंदनलाल गुप्ता, भगवानदास माहौर, जयदेवपुर, राधाकृष्णखत्री से लेकर अनेक सांस्कृतिक साहित्यकार, क्रांतिकारी, राजनीतिक कार्यकर्ता बैठे थे। बात चल निकलती है। क्रान्तिकारियों के प्रसंग, निराला की यादें, त्रिलोचन-मुक्तिबोध परसाई से जुड़ी घटनाएँ.... इस बीच चाय आ चुकी है। आप चाय पी रहे हैं और अठासी वर्षीय खन्नाजी की नीली आँखों से रोशनी झर रही है। बात करते हुए खन्नाजी उत्तेजित होते हैं, भावुक होते हैं, खो जाते हैं। आपको यकीन नहीं होता कि अपने पहनावे और जीवन शैली के प्रति बेपरवाह एक ऐसे आदमी के साथ आप बैठे हैं जिनसे 1943 में इंजीनियर की डिग्री ली थी, तीन साल मौज में नौकरी की थी और बाद में नौकरी छोड़कर कम्यूनिस्ट पार्टी का होलटाइमर रह गए और पार्टी के आदेश ये यहाँ नागपुर आ गए।

आप किताब खरीदने आए हैं या नहीं इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। यह नागपुर में बैठकबाजों के मिलने-जुलने का अड्डा भी है। बैठक भी और नागपुर में हिंदी की गंभीर किताबों और पत्रिकाओं के मिलने की एक मात्र जगह भी। आप किताब खुद ढूँढ़िए या किसी खास किताब की तलाश हो तो यादव जी से कहिए वे आपके लिए उसे ढूँढ़ देंगे। यदि किताब न मिली तो कोई बात नहीं, आप अपना आर्डर और फोन नंबर लिखा दीजिए। यदि किताब प्रकाशक के पास उपलब्ध हो तो आपको जरूर मिल जाएगी।

बातें करते हुए एक घंटा बीत गया। लीजिए चाय की दूसरी कप आ गई। लक्ष्मण आपके सामने की मेज से पुस्तकें, कागज- पत्तर हटाकर जगह बनाते हुए चाय का दूसरा कप रख गया है।

इन पचास सालों में दुनिया में क्या कुछ नहीं बदला? पिछले बीस सालों में तो कुछ ज्यादा ही तेजी से। लेकिन यह दुकान कुछ मामूली बदलावों के साथ आपके सामने है। आप जब इस जादुई दृश्य से बाहर निकलकर गाड़ियों की चिल्ल-पों के बीच आते हैं तो आप वही नहीं रह जाते जो इस पुस्तक संसार के लिए इमारत में घुसने के पहले आए थे। और ऐसा बार-बार होता है।

मैं पिछले सत्रह बरसों से सुविधानुसार लगातार इस दुकान में आता-जाता रहा हूँ। मेरे घर की 95 प्रतिशत किताबें इसी दुकान से खरीदी गई हैं। मैं जब उन किताबों को पढ़ता हूँ तो लगता है खन्नाजी मेरे आस-पास ही हैं। इस दुनिया में ऐसी दुकानें अब बहुत कम बची हैं जहाँ पहुंचकर आपको लगता है कि आप ग्राहक नहीं हैं, साथी हैं, सहयात्री हैं।

भारतीय युवा कविता में चिर परिचित नाम। एकाधिक कविता संग्रह प्रकाशित। कहानियां भी लिखी है। नागपुर में अध्यापन।
संपर्क : 09850313062

मेरे जीवन का डर

पुस्तकें हमारे जीने की वजह बनती गई

■ रजनी गुप्त

मेरे जीवन के अनकहे डर विचित्र किस्म के हैं। चीन्हें अचीन्हे डरों के बारे में सोचती हूं तो घबराहट होने लगती है। न जाने कितने डर देहनुमा माटी के अंदर बसे केंचुए की तरह हमारे भीतर गुड़ी मुड़ी पड़े रहते, जो मौके-बेमौके अपने ही भीतर से निकल पड़ते। सबसे पहले ठीक-ठाक तरीके से पढ़ पाने का डर यानी अच्छे नंबरों से पास होने का डर सबसे ज्यादा सताता। इसी राह पर आगे चलकर आर्थिक असुरक्षा के भूत से छुटकारा पाने का सपना जो देखते थे हम उस दौर में। रात के स्याह अंधेरे में आंखें फाड़े चारों तरफ तकती, घंटों नींद न आती, अपने एकांत से, अपनी खामोशी से जूझती फिर जीवन की निस्सारता महसूसते हुए खुद को सबसे अलग थलग मानते हुए सोचती, क्या ये जीवन ऐसे ही खत्म हो जाएगा? आम लड़कियों की तरह एक ही टिपिकल सपना देखने का मन कतई नहीं होता। आम तौर पर जो इकलौता भयावह डर अधिकांश मध्यवर्गीय लड़कियों की नसों में, उनकी रगों रगों में इस कदर हावी हो जाता यानी किसी ठीक ठाक नौकरीशुदा लड़के से ब्याह की चिंता में वे जी हलकान करती रहती।

सच तो ये है कि तमाम लड़कियां कायदे से सपने देखने तक से भी डरती थीं, वजह साफ थी, स्त्री पुरूष के बीच सदियों से बनी भेदभाव की दीवारें जिसमें एक शासक, दूसरा शासित, एक मालिक, दूसरा अधीनस्थ प्रजाति, एक के हाथ में अधिकारों की लाठी तो दूसरा उससे खौफ खाता, अवज्ञा करने की जुर्रत करने पर धमकाता मायके छोड़ दूंगा, फिर जाकर पड़े-पड़े वहीं मरना सड़ना। ऐसे वाकयात आम घरों के किस्से होते, जिन्हें देखते सुनते डर ने ऐसा अड्डा जमाया फिर तो मैंने भी एक भीष्म प्रतिज्ञा कर डाली सबसे पहले अपने पैरों पर खड़े होना है तभी शादी वगैरा के बारे में सोचूंगी, फिर इसके लिए चाहे जो करना पड़े। घर में विरोध हुआ मगर ठान लिया सो ठान लिया। बेशक आर्थिक असुरक्षा से उबरना डर से निकलने का सबसे कारगर हथियार साबित हुआ लेकिन यही सब कुछ नहीं था।

बेचारी लड़की है, सहानुभूति में लिपटे ऐसे बोल सुनकर चिढ़ जाती। उनके लिए मैं महज मादा भर थी जिसे जल्दी से जल्दी वे किसी को सौंपकर अपने बोझ से मुक्ति चाहते। अरे, तुम तो लड़की हो सो कैसे कहीं बाहर जा सकती हो, न, हम नहीं भेजेंगे। अपने को महज लड़की समझे जाने का बोध गहराने लगा। कितनी तकलीफ, कितना गुस्सा आता कि घर वाले दहेज के नाम पर मोटी रकम देने को तैयार हो जाते मगर उससे पढ़ा लिखाकर अपने पैरों खड़े होने की सुविधाएं मुहैया नहीं कराते। आए दिन बहस छिड़ जाती और माहौल विषाक्त हो जाता।

पितृसत्तात्मक व्यवस्था के बेधने वाले ताने अंतस को टीसने लगते फिर बेचैनी से घिर जाती। डरती थी अपने ही साए से, भीतरी उठापटक से या फिर अंदरूनी आवाजों से जो मुझे चैन से जीने नहीं देती थी। रात के अंधेरों में जब बाकी लोग खर्राटे ले रहे होते, मैं खुद से लड़ते लड़ते थक जाती। मगर एक बात अकाट्य है अगर लड़की कुछ बनने करने की ठान ले, पूरी आस्था, प्रतिबद्धता, मेहनत व लगन से अपने तयशुदा लक्ष्य की तरफ कदम बढ़ाती रहे तो संसार के सारे डर दुम उठाकर भाग खड़े होते है। डर के आगे जीत हैं, मजबूत इच्छा शक्ति ही सबसे बड़ा रामवाण है जो आपके कैसे भी डरों को पल भर में भस्म कर डालता है।

अचानक पिताजी की हत्या के हादसे के बाद जब घंटों गुमसुम बैठी रहती तब मेरी लंबी खामोशी ने कब और कैसे किताबों को अपना दोस्त समझा, पता ही नहीं चल पाया। अभी तक वो लम्हा याद है जब मेरी सहेलियां गोल घेरा बनाकर खेल रही होतीं और मैं चुपचाप चंदामामा, पराग या नंदन जैसी पत्रिकाओं में घंटों सुध-बुध खोए बैठी रहती। दद्दा के परिसर में (राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त) पली बढ़ी सो उनके प्रांगण में खूब किताबें पढ़ने को मिलती रहीं। हां, उसी परिवेश में किताबों की समानांतर दुनिया देखने को मिली। यही होता है किताबों का जादू जो सपनों से गठजोड़ कराता है। किताबों से दोस्ती क्या हुई, जिंदगी ही बदल गयी समूची। जीने की नई ताकत देती कविताएं। महादेवी का साहित्य पढ़ते उदात्तता का विकास हुआ तो जयशंकर प्रसाद की कविताएं उत्प्रेरित करतीं, अरे, मैं क्या क्या हासिल नहीं कर सकतीं, सब कुछ। फिर तो खोया आत्मविश्वास जैसे वापस लौटा लाया साहित्य। पहली बार चिरगांव जैसे कस्बे से उठकर कोई अकेले अपने दम पर सीधे दिल्ली जाकर जेएनयू में एडमीशन ले लिया, बस जैसे कायापलट हो गया। तभी से सारे डर छूट गए और किताबों का हाथ पकड़ मैं दूर तक निकल आयी। जिसने मुझे नौकरी पाने, उससे बेहतर पाने, कुछ नया नायाब रचने की इच्छा को पर लगाए और मैं मुक्त होकर आकाश में उड़ान भरने लगी। सचमुच, अपने डरों से निजात पाने का मूलमंत्र है- आत्मविश्वास और मजबूत इच्छा शक्ति जिसके सहारे आप कैसे भी डरो पर असुरक्षाओं से निबट सकते हैं।

मंत्रमुग्ध तन मन से एकाग्रचित्त देखती रहती किताबों को, बेचैन आंखें शब्दों को जल्द पढ़कर उस अनूठे पठनीयता के सुख को महसूसती, कदम दर कदम अपने आप पन्ने पलटते, हाथ अपने आप किताबें बटोर लाते और फिर किसी भी जगह बैठकर घंटों एकाग्रचित्त पुस्तकों की विशाल दुनिया के सैर पर निकल जाती। बेशक पुस्तकों के जरिए मैंने सीखा, जीवन के अंधेरे पक्षों का मुकाबला करने के लिए किस तरह के आत्मबल को कैसे संचित किया जाए। महापुरुषों की आत्मकथाएं या उनके द्वारा रचित किरदार जिंदा होकर जीने की ताकत बख्शने लगे। पुस्तकों में निहित ज्ञान का आलोक अदभुत होता है, ये किताबें ही हैं जो दुख के गहनतम क्षणों में हमारी उंगली पकड़ हमें आगे चलने को उत्प्रेरित करती हैं।

इस तरह साहित्य की रोशनी के जरिए मैंने जाना और सीखा कि किस तरह दुःख की निजी सत्ता धीरे-धीरे समूची सृष्टि को अपने अंदर समाहित कर लेती है, निजी दुख को वस्तुनिष्ठ तरीके से चीन्हने, जानने और बूझने के साथ उबरने की ताकत देता है साहित्य। धीरे-धीरे किताबों ने मेरे बेरंग जीवन में नए सिरे से इतने नायाब रंग भर दिए और इतनी जीवितेष्णा जगा दी कि फिर तो सब कुछ पुनर्नवा होकर अपने तयशुदा रास्ते पर हमारे एक बार उठे कदम आगे और आगे अनवरत बढ़ते चले जा रहे हैं।

चिर परिचित कथाकार और
उपन्यासकार। साहित्यिक
पत्रकारिता में खासी दखल।
लखनऊ में रहती हैं।
संपर्क : 09452295943

पाठ संस्कार

■ प्रहलाद सिंह टिपाणियां

प्रहलाद सिंह टिपाणियां प्रख्यात कबीर गायक हैं। देश और दुनिया में कबीर वाणी को उन्होंने अपने जनपद की बोली 'मालवी' में गाया है। वे अपने गांव 'लूणिया खेड़ी' जिला उज्जैन मध्य प्रदेश में रहते हैं।

प्रयास

'ढाई आखर प्रेम के'

पढ़ने का ही ज्यादा रहा है

मेरा परिवेश सूदूर मालवा का सहज ग्रामीण संसार का परिवेश रहा है। बहुत छोटी उम्र से लेकर आज तक मैंने इसमें बहुत कुछ ग्रहण किया है। आध्यात्म से लेकर मानवीय सामाजिक सरोकार तक ग्रामीण लोक परिवेश को लेकर मेरी स्मृति जहां तक जाती है उसमें मुझे वाचिक परंपरा सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण और रुचिकर लगती रही है। लोक जीवन का सबसे सशक्त पहलू शायद हमारी वाचिक परंपरा ही है। मेरी जो पृष्ठभूमि थी उसे पढ़ने से ज्यादा लोग श्रवण करते थे। यानि प्रचलित धार्मिक प्रसंग, कथा, आख्यान आदि। मैंने भी अपने अक्षर ज्ञान के बाद इन्हें सुना और शायद पढ़ने का प्रयास किया। फिर भी कह सकते हैं कि अपनी आरंभिक शिक्षा लेने के दौरान से ही पढ़ने और सोचने के संस्कार मिलने लगे थे। यहां पर पढ़ने से आशय उस दौर में किसी तरह के गंभीर साहित्य आदि से कतई नहीं है, अपितु ग्रामीण लोक में प्रचलित कई तरह के लोक आख्यानों और उनमें शामिल कई तरह के चरित्रों के विषय में जानने में ज्यादा रुचि होती थी। जहां तक कबीर की विचारधारा से जुड़ने का जो माध्यम रहा है, वह मेरे जीवन में बहुत बाद में आया। जब तक आप-हम जैसे स्कूलों में पढ़े हैं, तो उसमें कबीर की साखियां पढ़ी थीं और वो कबीर की साखियां उस समय तो इसलिए पढ़ी थीं कि हमको परीक्षा में दस नम्बर मिल जाएंगे ओर हम पास हो जाएंगे। यह साधारण बात थी। क्योंकि कबीर के मर्म को उस समय समझना शायद हमारे वश की बात नहीं रही होगी या उतना हमारा सोच नहीं था। हां, जिस समय हम पढ़ रहे थे, उस समय सिर्फ पढ़ना है और परीक्षा में पास हो जाएंगे, इन बातों पर ध्यान केंद्रित था। कबीर के प्रति रुझान जीवन में एक नाद के माध्यम से हुआ। वह भी तब हुआ जब 1978-79 में मेरी नियुक्ति काठबड़ौदा में हुई। काठबड़ौदा एक गांव मालवा में है। बतौर शिक्षक मेरी नियुक्ति हुई। वह मिडिल स्कूल था। हम चूंकि विज्ञान के छात्र रहे हैं, बायलॉजी मेरा सब्जेक्ट था, इस वजह से मन में ऐसी धारणा बन जाती है कि जब तक हम किसी चीज को साक्षात नहीं देख लेंगे तब तक उसे ठीक से समझ नहीं सकते। कबीर गायन के प्रति अपनी दीवानगी के कारण मैंने खुद का गांव छोड़कर एक दूसरे गांव में आठ साल तक स्थाई रूप से रहकर बिताए। जहां रहकर मैंने कबीर को वाणी के माध्यम से आत्मसात करने का प्रयास किया। मेरे जीवन में यह वही दौर था जब मैंने कबीर साहित्य का गंभीरता से अध्ययन करने का प्रयास किया। अध्ययन का यही प्रयास आज भी निरंतर है।

भक्तिकालीन भारतीय संत परंपरा ने जितना और जिस स्वरूप में रचा है वही सार्वकालिक और अतुलनीय है। कबीर, सूर, मीरा, तुलसी, नानक, नामदेव, तुकाराम, रैदास और कई संतों की वाणी और उनके कथन अपने अंदर जीवन की सारी शिक्षा और सार लिए हुए हैं। एक आम भारतीय की तरह संभवतः यही सब कहीं न कहीं मेरे अपने पाठ संस्कारों में शामिल रहा है। मैं बहुत ही विनम्रता के साथ इस बात को स्वीकार करता हूं कि मैंने कभी साहित्य या समकालीनता से संबंधित किन्हीं लिपिबद्ध विचारों को बहुत ज्यादा नहीं पढ़ा। मेरा प्रयास सदा 'ढाई आखर प्रेम के' पढ़ने का ही ज्यादा रहा है। मेरे लिए वे सभी सम्माननीय हैं जो समकालीन समय में इतना लिख रच रहे हैं, जिनके लिखे हुए को देश और दुनिया बहुत ही मनोयोग से पढ़ रही है। अपने मन को भाने वाले पाठ सभी पढ़ते हैं, और मैं भी। हम अपने लिए जीवन में जिन चीजों को चुनते हैं उसमें पढ़ना भी एक महत्वपूर्ण चुनाव होता है या होना चाहिए। हरेक के लिए वह किसी विषय विशेष पर केंद्रित हो सकता है। मेरे लिए सबसे बेहतर पाठ वही है जो मेरे मन और आत्मा को शांत प्रसन्न व एकाग्र कर सके। अभिव्यक्ति के ये प्रयास वो फिर चाहे लेखन, गायन या कला के किसी दूसरे माध्यम से उनके अंतर सम्यक दृष्टि हो तो वे संभवतः ज्यादा संप्रेषित करने वाली होंगी। दर्शन की दृष्टि से यह मेरे और शायद सभी के लिए एक तरह का पाठ ही है

प्रस्तुति : राजेश्वर त्रिवेदी

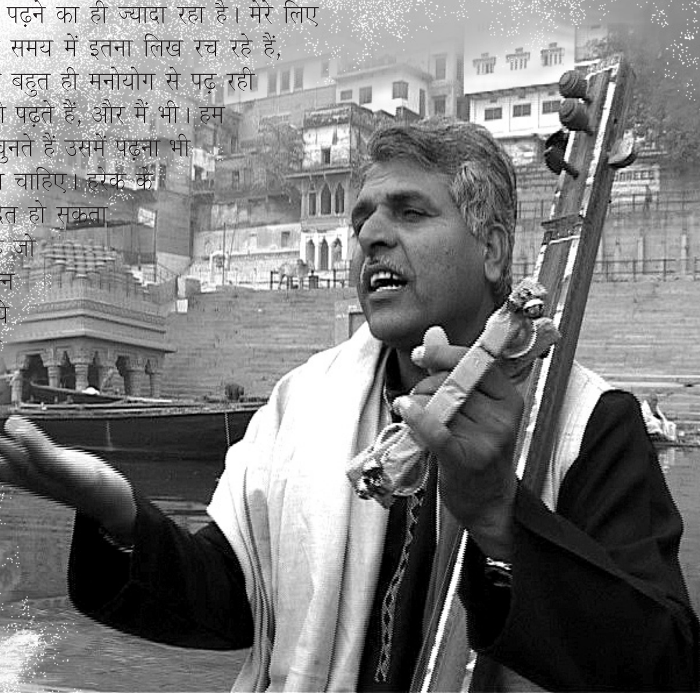

जो अभी पढ़ा

एक कस्बे के नोट्स

■ ममता कालिया

इधर एक वर्ष में जो कुछ पढ़ा लिखा उसमें नीलेश रघुवंशी का पहला उपन्यास 'एक कस्बे के नोट्स' बहुत ही सार्थक और मानीखेज लगा। इन दिनों जब स्त्री-विमर्श के नाम पर इसमें 'माया'और 'काया' का निवेश बढ़ता ही जा रहा है, यह उपन्यास बिल्कुल अलग तरीके से स्त्री के जीवन और उसके संघर्षों को उद्‌घाटित करती है। इस उपन्यास में विमर्श के नाम पर कोई बड़ी बात या भारी भरकम शब्दावली नहीं है। लेकिन इसकी ईमानदारी और साफगोई इसकी सीधी सच्ची सरल भाषा दिल को छू जाती है।

पिछले दिनों के ऐसे छिटपुट पढ़ने में कुछ पत्रिकाओं के अंक याद आते हैं जिसमें कुछ यादगार चीजें थीं। एक पत्रिका है 'अनहद' भोपाल से निकलती है, उसके एक अंक में वंदना राग की कहानी 'पति परमेश्वर' काफी अच्छी लगी। अभी अभी नया ज्ञानोदय का अंक आया है 'उत्तर भूमंडलीकरण पीढ़ी : पहली पारी और दूसरी पारी'। इसमें सबसे अच्छी बात तो यही रही कि अब इस पीढ़ी की पहचान को व्याख्यायित करने वाला एक नाम चलन में आया है। इस अंक में भी कई उल्लेखनीय कहानियाँ है जो पाठकों को देर तक याद रहेंगी। मनोज कुमार पांडेय की 'पानी', राकेश मिश्र की 'शोक', नीलाक्षी की 'इब्तीदा से आगे....', तरुण भटनागर की 'रोना' और कबीर संजय की कहानी। ये ऐसी कहानियां है जो भविष्य में हमारे समय की कहानियां बनेंगी। और भी बहुत कुछ पढ़ा है पिछले एक वर्ष में लेकिन वे चीजें धीरे-धीरे और सही संदर्भों में ही याद आ पाती हैं।

प्रस्तुति : राकेश मिश्र

सुप्रसिद्ध कहानीकार
और उपन्यासकार।
दिल्ली में रहती हैं।

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा द्वारा प्रकाशित

बहुवचन

(साहित्य और विचार की त्रैमासिक पत्रिका)

संपादक : अशोक मिश्र
वार्षिक शुल्क : 200/
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)

समीक्षा

■ पुष्पपाल सिंह

यहूदी : अस्मिता की तलाश और जीवन-संघर्ष

"जिनके पुरखे अब्राहम, आइज़क और जेकब (जो इस्राइल के नाम से जाना जाता है) थे, जो अपने धर्म, सभ्यता व संस्कृति को बचाने के लिए उस 'दूध और मधु की धरती' इज़राइल (कनान, फिलीस्तीन) से भागे थे....अपना धर्म व जाति परिवर्तन कर खुद को हिन्दूवादी, ब्राह्मणवादी जीवनधारा में बहा नहीं सके और इसलिए आम जनता में भी निम्न वर्ग की तरह दूर-दराज की (नयी समंदर किनारों पर) बस्तियों में रहे, छोटे-मोटे व्यवसाय किये और पेट का गड्ढा भरते रहे। लेकिन कुषाणों, यूनानियों तथा शकों की तरह बौद्ध धर्म अपना नहीं सके। और चूँकि वे कमज़ोर वर्ग में शामिल रहे होंगे, इसलिए ब्राह्मणों तथा बौद्ध-भिक्षुओं (जिनके पास विद्या का अधिकार था) के सामान्य ज्ञान और विद्या से अनजान रहे।" (पृ. 155)।

हिंदी उपन्यास के कथ्य में वैविध्य और विस्तार का एक बड़ा कारण यह है कि आज जीवन के विविध क्षेत्रों से जुड़े लोग और अनेक जातीय-समाजों, भाषा-समाजों के लोग अपनी लेखनी से उपन्यास को समृद्धि प्रदान कर रहे हैं। अल्पसंख्यक समाजों में मुस्लिम, सिख, ईसाई, एंग्लो-इंडियन, आदि समाजों पर केन्द्रित उपन्यास प्रकाश में आ चुके हैं किंतु अत्यंत अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में भारत में बसे यहूदी-समाज पर अब तक नहीं लिखा गया था। इस यहूदी समाज के इतिहास को लक्षित कर उसकी अस्मिता की तलाश और भारत में रचने-बसने के जीवन संघर्ष या कहें जीवट को प्रथम बार इसी समुदाय की चर्चित कथाकार शीला रोहेकर ने पूरी संजीदगी और सूक्ष्मता के साथ अपने उपन्यास 'मिस सैम्युएल : एक यहूदी गाथा' में सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया है।

इससे पूर्व कि उपन्यास के अन्तर्बाह्य पर कुछ कहा जाए, हिंदी उपन्यास में इधर उभर रही एक प्रवृत्ति का रेखांकन आवश्यक होगा। यद्यपि उपन्यास-कहानी जैसी विधाओं में कथेतर अन्य विधाओं का समावेश होता ही रहा है। नाटक, निबंध, रिपोर्ताज़, पत्रकारिता आदि की उपन्यास में अन्तर्भुक्ति प्रायः ही होती आ रही है किंतु आज उसमें आत्मकथा या आत्मवृत्त की आवाजाही निरंतर बढ़ती जा रही है। यद्यपि कहा गया है कि उपन्यास कथा कलेवर में अन्य पात्रों के माध्यम से आत्मवृत्त ही है किंतु कुछ कृतियों में आत्मकथा का प्रवेश प्रच्छन्न रूप में नहीं, बहुत सीधे-सीधे, प्रत्यक्षतः हुआ है। हाल के वर्षों में मृदुला गर्ग का उपन्यास 'मिलजुल मन' इसका एक सशक्त उदाहरण है। विवेच्य उपन्यास के प्रारंभ में जिस रूप में यहूदी परिवार का वंश-वृक्ष दिया गया है, वह इसके आत्मकथात्मक रूप को और भी अधिक स्पष्टता से दर्शाता है जिसमें डेविड रूबेन (पप्पा-दादा) तथा डायना (अज्जी-दादी) से आगे की तीन पीढ़ियों का इतिहास पूरी प्रामाणिकता से चित्रित किया गया है- कथा-वक्ता मिस सैम्युएल-में किसी हद तक शीला रोहेकर का ही प्रतिबिम्ब लक्षित होता है। उपन्यास का सबल पक्ष यह है कि वह किसी पात्र विशेष की जीवनी या आत्मकथा-भर बनकर नहीं रह जाता, तीन पीढ़ियों के माध्यम से यहूदियों के भारत आगमन से लेकर यहाँ बसने, विभिन्न स्थानों पर उनके बिखरने और पूरी तरह भारतीय संस्कृति को अपनाकर भी अपनी अलग पहचान बनाए रखने की जीवट का बहुत यथार्थपरक चित्रण किया गया है। यहूदियों के इतिहास की प्रस्तुति में गहरे शोध का परिचय तो मिलता ही है, स्वयं उस इतिहास की प्रत्यक्षदर्शी अंगभूत, के रूप में अनेक जनश्रुतियों और मिथक के सहारे यहूदी समाज के भारत में इतिहास और जीवन-संघर्ष को तटस्थ रूप में कथा के माध्यम से विश्लेषित किया गया है। उपन्यास की दो अन्तर्धाराएँ (अंडर-करेंट्स) हैं : प्रथम यहूदी समाज का भारत में इतिहास और दूसरा 'परिसर' (वृद्धाश्रम) के माध्यम से समाज में वृद्धों की दयनीय अवस्था। यहूदियो का भारत में इतिहास प्रस्तुत करते हुए यद्यपि तिथियाँ, सन्, आदि दे कर उसे पूरा प्रामाणिक बनाया गया है किंतु कहीं भी उसमें ऐतिहासिक वचनों की शुष्कता या भारीपन नहीं आ पाया है, विभिन्न कथा-युक्तियों के प्रयोग से सर्वथा उसमें एक कथात्मक संवेदन विन्यस्त है। इसीलिए यहूदी इतिहास का यह पाठ इतना रोचक और उत्प्रेरक बना रहता है।

भारत में यहूदी जाति का इतिहास यद्यपि लगभग दो हज़ार वर्ष पुराना है किंतु दो हजार वर्षों के इतिहास में वे कभी भूल नहीं पाये हैं कि उन्हें एक दिन अपनी जन्मभूमि इस्राइल लौटना है। यह कसक एकाधिक स्थलों पर विभिन्न पात्रों के माध्यम से इस रूप में दर्शायी गयी है, कि उन्हें अपनी उसी मिट्‌टी में प्राण देने की उत्कट इच्छा जगती है, "मेरी काया जब इसी मिट्‌टी से बनी है फिर भी इसी में मिल जाने के लिए क्यों तरस नहीं रही? जिस देश को न कभी जाना-देखा, उसी के प्रति ऐसा अथाह मोह क्यों? क्या यह दो हजार वर्ष पूर्व छूटी हुई जड़ों का खिंचाव हो सकता है?" वापस लौटेंगे, एक दिन कह कर निकले और फिर कभी न फेर सकने वाले, विभिन्न कोनों की पराई मिट्‌टी में दफन होते हमारे पूर्वजों के कुछ गुणसूत्र या दबी इच्छाओं के प्रेत तो नहीं जो मुझे जकड़े हुए हैं? इतनी खलबली क्यों रहती है?" वस्तुतः 2200 ई. पू. के लगभग मेसोपोटेमिया (आज के इराक) के 'उर' नगर से एकेश्वरवाद का मत ले कर मूर्तिपूजक कबीले के अगुआ अब्राहम वहाँ से निकले, बाद में इन्हीं के वंशज मौज़ेस ने यहूदी धर्म की नींव रखी और 'बाइबिल' में ही अपनी धार्मिक संहिता स्थापित की। तभी सन् 70 ई. में रोमनों द्वारा उनकी मातृभूति पर आक्रमण किया गया, उनका पवित्र 'सोलोमन मंदिर' नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया जो 'मातृभूमि के उस महान मंदिर के भग्नावशेषों को देखते हुए, रोते बिलखते, डर कर भागते यहूदी कबीलों ने समुद्री मार्ग से भारत की ओर पलायन करने से पहले उस विशाल पोत से समवेत स्वर में कसम खाई थी कि वे लौटेंगे। अवश्य लौटेंगे अपने देश की मिट्‌टी में...एक दिन...उस भविष्य से बिलकुल अनभिज्ञ कि वे किसी ऐसी नींद में पाँव धरने जा रहे हैं जो उनको हजारों वर्षों तक अँधेरे में गुम कर देगी।" यह सब लेखिका ने पीढ़ियों से चली आती 'पुरागाथा' के आधार पर वर्णित किया है। किंवदंती के अनुसार ऐसे ही स्वप्न संजोये कोंकण-पट्‌टी पर उतरे इस्राइलों, जिन्हें 'बेने इस्राइल' कहा जाता था, के सात पुरुषों और सात स्त्रियों के यहूदी समुदाय ने भारत की धरती पर कदम रखा और यहाँ आकर वे अपने अस्तित्व को स्थापित करने के लिए जूझ पड़े। मौर्यकाल को अस्त हुए करीब दो सौ वर्ष बीत चले थे, पूरे दक्खिन में राज्य-व्यवस्था डाँवाडोल थी किंतु समुद्री व्यापार में कोई बाधा न थी, "इसीलिए अपने वाले जलयान इथोपिया, जोर्डन, अरब द्वीप के तटीय नगर अपना फारस की खाड़ी के दक्षिणी नगर और यूनान से खजूर, मदिरा, हाथीदाँत, सोना, मोती, ताँबा, जस्ता, काँच और सोना चाँदी की मुद्राएँ लेकर

आते और भारत के सोपारा, भारूकच्छ (भारूच), चेउल (चोल) या मलबार जैसे बंदरगाहों से नील, जटामांसी, हीरे, कछुए की पीठ की हड्डी, फिरोजें, गरम मसाले, रेशम आदि भर कर ले जाते।'' केवल तन पर पहने हुए कपड़ों की पूँजी लेकर भारत में आए इन यहूदियों को अपनी धार्मिक विरासत पर बड़ा गर्व था, इसलिए वे यहाँ आए शकों, हूणों, कुषाणों, यूनानियों आदि के समान अपने को हिंदू धर्म और समाज का अंग नहीं बना पाये, अपना अलग वजूद बनाए रखने की जद्दो-जहद से वे हमेशा जूझते रहे, ''जिनके पुरखे अब्राहम, आइजक और जेकब (जो इस्राइल के नाम से जाना जाता है) थे, जो अपने धर्म व संस्कृति को बचाने के लिए उस 'दूध और मधु की धरती' इजराइल (कनान, फिलस्तीन) से भागे थे...अपना धर्म व जाति परिवर्तन कर खुद को हिन्दूवादी, ब्राह्मणवादी जीवनधारा में बहा नहीं सके और इसीलिए आम जनता में भी निम्न वर्ग की तरह दूर दराज की (नदी समंदर किनारों पर) बस्तियों में रहे, छोटे-मोटे व्यवसाय किये और पेट का गड्ढा भरते रहे लेकिन कुषाणों, यूनानियों तथा शकों की तरह बौद्ध धर्म नहीं अपना सके।'' समाज के कमजोर वर्ग में परिगणित होने के कारण उन्हें बौद्धों तथा ब्राह्मणों द्वारा शिक्षा से भी वंचित रखा गया। ''...खुद को इस्राइल कहलाने वाले ये अल्पसंख्यक दिन-रात की जद्दोजहद, मेहनत और विपरीत परिस्थिति में आगे बढ़ने व ज़िंदा रहने के बोझ के कारण शायद भूलते गये अपनी हिब्रू भाषा, पहनावा, रीति-रिवाजों और कर्मकांडों की स्मृति, धर्म व सभ्यता की निशानियाँ।'' अपनी जातीय संस्कृति और अतीत का काफी कुछ भूलने के बाद भी इन यहूदियों ने अपनी धार्मिक मान्यताओं, रीति-रिवाजों, आदि को बड़ी सावधानी से सहेज कर रखा। जिसका परिचय उपन्यास में अनेक स्थानों पर अनेक रूपों में मिलता है। शुक्रवार की शाम को 'शब्बाथ', शनिवार-विश्राम के दिन का प्रारंभ और फिर उसमें अपनायी जाने वाली 'शब्बाथ शालोम' (शब्बाथ का दिन मुबारक हो) की प्रथा का अक्षरशः पालन करते परिवार उसी यूनानी अस्मिता को सहेजने के उपक्रम हैं, ''पप्पा तेल भरे गिलासों में तैरती रूई की बातियाँ रखेंगे और फिर घर के सारे सदस्य सिर ढककर दाहिने हाथ को ज्योतियों की ओर बढ़ाकर समवेत सुर में कहेंगे : बारूख अत्ता आदोनाय एलोहेनू मेलेखहा उल्लाम...आमेन। एक दूसरे का हाथ छू कर, पकड़ कर दाहिने हाथ से अपना बोसा लेते कहेंगे 'शब्बाथ शालोम' (शब्बाथ का दिन मुबारक हो)!'' अपने अलग मंदिर, पूजा घर या कहें गिरिजाघर जिन्हें 'सिनेगॉग' कहा जाता है, यहूदी धर्म और दर्शन की कई जगह दी गयी व्याख्या, आदि से यहूदियों के जातीय विश्वासों, धार्मिक अनुष्ठानों, आदि का अच्छा परिचय मिलता है। उनके लोकाचारों, आदि का भी परिचय उपन्यास के कथा-क्रम में आता चलता है, यथा- ''कि लड़के की सुन्नत उसके जन्म के आठवें दिन होनी चाहिए, और आहार के कुछ खास नियम हैं (उदा. बिना पँख और छिलकों (स्केल्स) की मछली, मांस भक्षी पशु-पक्षी इत्यादि खाना वर्जित है) जो उनके किस धर्म में है, यह पता नहीं लेकिन कहा गया है। और...अपनी खुशी, गम के अवसरों पर वे किसी प्रार्थना की पहली पंक्ति की जिसका अर्थ वे कतई नहीं जानते थे और अशुद्ध उच्चारणों के साथ बड़बड़ा देते, ''शोमा इस्राइल...।'' लेखिका यहूदी इतिहास के इस पक्ष पर भी विचार करती है कि सर्वप्रथम ईसाई मिशनरी जे.ए.सारटोरियस ने सन् 1738 में दक्षिण भारत में बसे इन अल्पसंख्यक यहूदियों का उल्लेख किया, ''तब तक ये अचीन्हे और दुर्लक्षित रहे।'' वस्तुतः उपन्यास का सोलहवाँ अध्याय पूरे विस्तार और सूक्ष्मता में भारत में यहूदियों के इतिहास और संघर्ष को लक्षित करता है।

यहूदी अल्पसंख्यक समुदाय एक ओर तो अपनी निजता, विशिष्ट सभ्यता और संस्कृति को बचाने की चेष्टा कर रहे थे किंतु इससे वे पूरी तरह भारतीय समाज में घुल-मिल जाने में भी असफल रहे जिससे उनकी दुर्नियति यह बनी कि वे भारतीय समाज या कहें हिंदू समाज में पूरी तरह अलग-थलग पड़े रह गये। किराये के लिए मकान ढूँढते या किसी हाउसिंग सोसायटी में मकान खरीदते, वे गुजराती या मराठी समाज द्वारा अपनाये नहीं जाते-उन्हें मकान या फ्लैट अपनी जातीय पहचान के ही कारण मिल नहीं पाता था। नौकरी मिलने में भी उनकी जाति आड़े आती थी। इस अति अल्पसंख्यक यहूदी समुदाय का यह दर्द उपन्यास में कई स्थानों पर बड़े गहरे संवेदन के साथ चित्रित किया गया है। कभी उन्हें मलेच्छ कहा जाता, कभी गोरी चमड़ी होने के कारण पूरी तरह विदेशियों की तरह समझा जाता है, ''सैकड़ों वर्षों से आप लोगों के बीच रहते आये हैं फिर भी मदद का कोई हाथ, सांत्वना की झीनी-सी कोई छाँह या सरोकार की कोई डोर हमारी ओर बढ़ी? हमारे सुख-दुख, वार-त्यौहार अथवा धर्म-संस्कार को जानने की किसी को दरकार थी? 'मलेच्छ या 'परदेसी' की श्रेणी में धकेले गए हम क्या कभी तुम्हारी रसोई, पूजा-पाठ या शादी-ब्याह की रस्मों का हिस्सा बन पाये? बताइये, क्या कभी आपने कल की अनिश्चतता, अल्पसंख्यकों के डर और जन-अलगाव या दूरी को महसूसा है? या अपने भीरु चौकन्ना, अवसरवादी व आत्मकेन्द्रित होने पर हरदम शर्म महसूस की है? किसी उच्च शिक्षा, सम्मानजनक नौकरी और समाज के सुख-दुख का हिस्सा बनते एक अदद घर का स्वप्न आपने पीढ़ियों तक देखा है। बताइये?'' कभी-कभी उन्हें हिंदू उग्रवाद का भी सामना करना पड़ता, अब उन्हें देश छोड़ कर जाने के लिए कहा जाता, ''वापस लौटिए अपने देश और जमीं पर, ताकि यहाँ किसी जरूरतमंद हिंदू नागरिक के लिए जगह खाली निकल आये।'' हिंदू-मुस्लिम के बीच हुए साम्प्रदायिक दंगों के समय उनकी पैंट उतरवा कर उनके ख़तना को पहचान कर उन्हें मुसलमान समझकर उनके साथ बदसलूकी की जाती। अहमदाबाद की आम जनता ''उन्हें महाराष्ट्रियन धर्मपरिवर्तित हुए ईसाई समझते थे।'' यद्यपि गुजरातियों, महाराष्ट्रियों के साथ विवाह कर उनके समुदाय में वर्ण संकरता प्रारंभ हो गयी थी, फिर भी उनके अपने समाज में शुद्ध यहूदी रक्त व्यक्ति को ही विशेष सम्मान की दृष्टि से देखा जाता। वस्तुतः 'सत्रह अट्ठारह सौ वर्षों तक आर्थिक, सामाजिक और जातीय विषमताएँ झेलते-झेलते वे टूट चुके थे जब तक उन्हें अपने वजूद की कोई मुकम्मल पहचान नहीं मिली।'' इसी कारण उनकी जाति में दो तरह के लोग हैं, जिस-जिस तरह अपने पुरखों की मातृभूमि इजराइल जाना चाहते हैं और इसके विपरीत बहुत सारे लोगों का वह जनसमुदाय है जो पूरी ईमानदारी तथा विश्वास के साथ मानता है कि प्रकृति की पूरी छह ऋतुओं वाला, हरा-भरा, स्नेह का स्पर्श करवाता, विविध त्योहारों, उत्सवों, बोलियों, रीति-रिवाजों, परम्पराओं, साधु-संतो, बाबाओं, गुरुओं को सिमटाता, बाली विद्या से अध्यात्म के फलक को छूता, अनेक संस्कृतियों के रस से डूबा यही देश उनकी मायभूमि (मातृभूमि) है। सदियों से उनके साथ-साथ चलते इसी देश से उनकी पहचान जुड़ी है। ऐसे लोग के लिए भारत ही उनका इजराइल है।''8 ऐसे ही लोगों में से कितनों ने ही इस देश की उन्नति में सहयोगी बनते हुए अनेक महत्वपूर्ण पदों पर कार्य किया है, ''इस देश में भी ऐसे पढ़े-लिखे लोग हैं जो नगण्य ही सही हमारा योगदान जानते हैं। वे सन् 1937 में बंबई के मेयर डॉ. ई. मोजस, लोकमान्य तिलक के कनिष्ठ सलाहकार डेविड एरूलवर (सन् 1916) (जिन्होंने जिन्हा और जोजफ बेप्टिसा के साथ बंबई हाइकोर्ट में तिलक का मुकदमा लड़ा था), गांधीजी के डॉक्टर रह चुके अब्राहम एररूलकर (जो होमरूल लीग के वाइस प्रेसीडेंट भी थे) जैसे लोगों की अहमियत से वाकिफ हैं। सिनेमा के डेविड, नादिरा को सब पहचानते हैं। आज भी देश में हमारे बेने इस्राइल ऊँचे ओहदों पर हैं या डॉक्टर, इंजिनियर बन देश की सेवा में कार्यरत हैं। विविध भाषाओं में कवि और लेखकों को क्यों भूल जाते हैं?'' (इस उपन्यास की लेखिका शीला रोहेकर भी हिंदी की प्रतिष्ठित कथाकार हैं, अर्से-से उन्हें पढ़ते हुए और इनसे तथा इनके पति रवीन्द्र वर्मा से फ़ोन-परिचय होते हुए भी कभी भी यह अहसास नहीं हुआ कि शीला जी एक यहूदी हैं जितनी परिनिष्ठित भाषा में पूरी तरह हिंदी मुहावरे में ढली भाषा में उपन्यास लिखा गया है, उससे शीला रोहेकर कहीं भी यहूदी नहीं लगतीं। इसी प्रकार अनेक यहूदी पूरी तरह यहाँ की मिट्टी से जुड़ गये हैं। उनमें नाम अनेक यहूदियों की भाँति पूरा हिन्दू समाज का है जिसमें महाराष्ट्रियनों के समान

'रोहेकर'-'कर' जुड़ा हुआ है। ऐसे ही कितने यहूदियों के नाम गुजरातियों के समान हैं)। इस प्रकार भारत में बसा यह यहूदी समाज, अब और तेजी से 'भारतीयकरण' की प्रक्रिया से जुड़ रहा है।

'परिसर' के माध्यम से वृद्धों और वृद्धाश्रमों की समस्याओं पर तो प्रकाश पड़ता ही है, वहाँ रहती वृद्धाएँ जब अपने अतीत में झाँकती हैं तो उनके जातीय इतिहास पर एक नयी दृष्टि से प्रकाश पड़ता चलता है। मिस सीमा सैम्युएल, अमीना, मैरी वर्गीज, मिसेज चिटनीस, मनजीत कौर, सखूनाई, आदि 'परिसर' के वासी जब अपने अतीत में झाँकते हैं तो कितनी ही सामाजिक स्थितियों का परिचय उनके अनुभव जगत से जाना जाता है। अमीना जैसे पात्र की उपस्थिति बहुत सप्रयोजन है जिसके माध्यम से 2002 के गुजरात नर-संहार के क्रूर-कृत्यों का चित्रण किया गया है। गुजरात के साम्प्रदायिक कांड के चित्रण के कई अवसर उपन्यासकार ने उपन्यास में खोज निकाले हैं। गुजरात नर-संहार के चित्रण में यद्यपि पूरी तरह जानी घटनाओं का ही यहाँ उल्लेख हुआ है किंतु इन घटना-प्रसंगों के माध्यम से जिस मानवीय संवेदन को प्रेरित किया गया है, वह प्रमुख है। अमीना का दुःख यह है कि वह सारे परिवार के कट-पिट जाने पर स्वयं क्यों शेष रह गयी, "सबके जाने को नहीं, अपने बचे रहने को बर्दाश्त नहीं कर पाती हूँ सीमा! यह अल्लाह! मुझे यह रोज-रोज का दोज़ख क्यों? उसे दुःख है कि गुजरात दंगों ने पाँच हजार वर्ष पुरानी साँझी विरासत को कुछ ही मिनटों में ध्वस्त कर दिया, "पाँच हजार वर्ष पुरानी हमारी धरोहर साँझी है। हम मात्र प्रवाह के बुलबुले हैं,...धारा नहीं....कहाँ बता पायी सीमा? पाँच हजार वर्ष पुरानी इस धारा को उन्होंने पचास मिनट में मटियामेट कर दिया। सना, गजल और आयशा के नग्न, उधड़े जिस्म व मर्दों के कटे टुकड़े पड़े थे वहाँ।" केवल अमीना जैसे मुस्लिम पात्र ही नहीं, मिस भरूचा, मिसेज चिटनीस सभी पात्रों की स्मृति में गुजरात दंगों की त्रासदी उसी भयावहता के साथ जीवित है, मिस भरूचा किसी प्रकार साहस जुटा उस खौफनाक मंजर को इस रूप में बताती है, "तलवारों, लाठियों, भालों की आवाजें, कैरोसिन की भीगी जलती बतियों के सधे निशाने, दरों-दीवारों का भड़भड़ जलना, गिरते शरीर से फूटते खून के फव्वारे, आग की लपटों में जलते मानवों की चिरायंध और इस सबके बीच में उन्मादी, लिप्सामय, स्त्री शरीरों को चाक करते सीत्कार।" इसी प्रकार अमेरिका-इराक संघर्ष, इसमें राष्ट्रपति जार्ज बुश की भूमिका, उसका इराक-आक्रमण के समय दिया गया भाषण, आदि घटनाओं का चित्रण करता उपन्यास अपने वर्तमान राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय परिदृश्य पर भी दृष्टि डालता चलता है। भारत के वर्तमान राजनीतिक दौर और 'शाइनिंग इंडिया' की हकीकत से भी रू-ब-रू होती उपन्यासकार सभी राजनीतिक दलों की ईमानदारी को प्रश्नांकित करती है, "हाथी, कमल, हाथ, साइकल, चाबी, फानूस, घड़ी...और न जाने क्या-क्या है जिन पर मुहर लगाती है जिसके बदले में दिन-भर बिजली पानी, नौकरी धंधा, लहलहाते खेत खलिहान, कूदता-फाँदता बचपन, शिक्षा, स्वास्थ्य, बैखौफ, जन-जीवन, सुरक्षा और न्याय तथा चमकता भविष्य देने का पक्का वादा है। इरादा है।" किंतु इन वायदों-इरादों की असलियत जनता 'स्टिंग ऑपरेशन' में देख चुकी है। अपने इन्हीं संदर्भों में उपन्यास की कथा एकरेखीय नहीं रह गयी है, यहूदी इतिहास और वृद्धावस्था की दुरवस्था के साथ-साथ वर्तमान के कई राजनीतिक तथा सामाजिक, आर्थिक मुद्दों से उपन्यास मुठभेड़ करता हुआ एक अत्यंत पठनीय उपन्यास है। इसके समग्र प्रभाव को क्षीण कराती एक ही न्यूनता दिखाई देती है कि यहूदी इतिहास का अत्यंत प्रभावी चित्रण करता उपन्यास अठारहवें अध्याय तक समाप्तप्राय हो जाता है, बाद के चार अध्यायों के लगभग 22 पृष्ठ कथ्य को खींचते दिखाई देते हैं, वे पाठक पर भारी पड़ते हैं, मात्र दो-तीन पृष्ठों में इन विवरणों को समेट कर उपन्यास के गठन को और अधिक कसा जा सकता था।

मिस सैम्युअल : एक यहूदी गाथा
शीला रोहेकर
भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली
मूल्य : 200/-

कथा आलोचना में
महत्वपूर्ण योगदान।
जालंधर में रहते हैं।
संपर्क : 09417868651

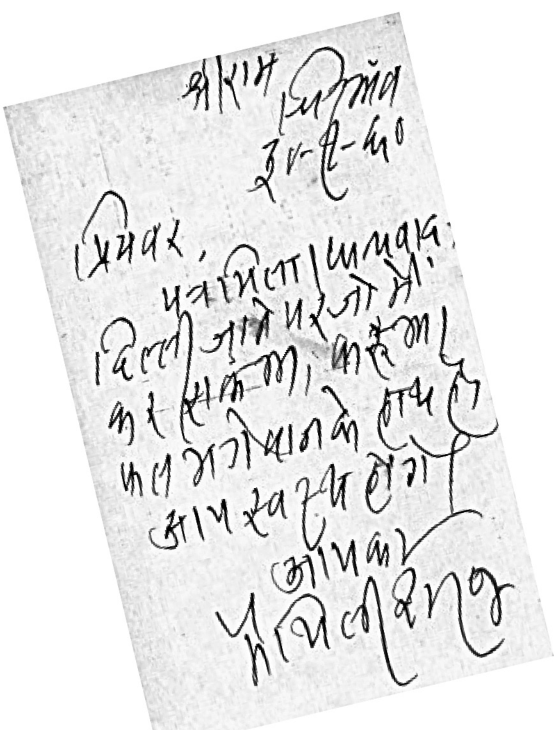
श्रीराम चिरगाँव
30-11-60
प्रियवर,
पत्र मिला। आभार।
दिल्ली जाने पर जो मैं
कर सका, करूँगा।
कल आशीर्वाद के साथ
आप स्वस्थ होंगे।
आपका
मैथिलीशरण

मैथिलीशरण गुप्त का हस्तलिखित पत्र। यह पत्र स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

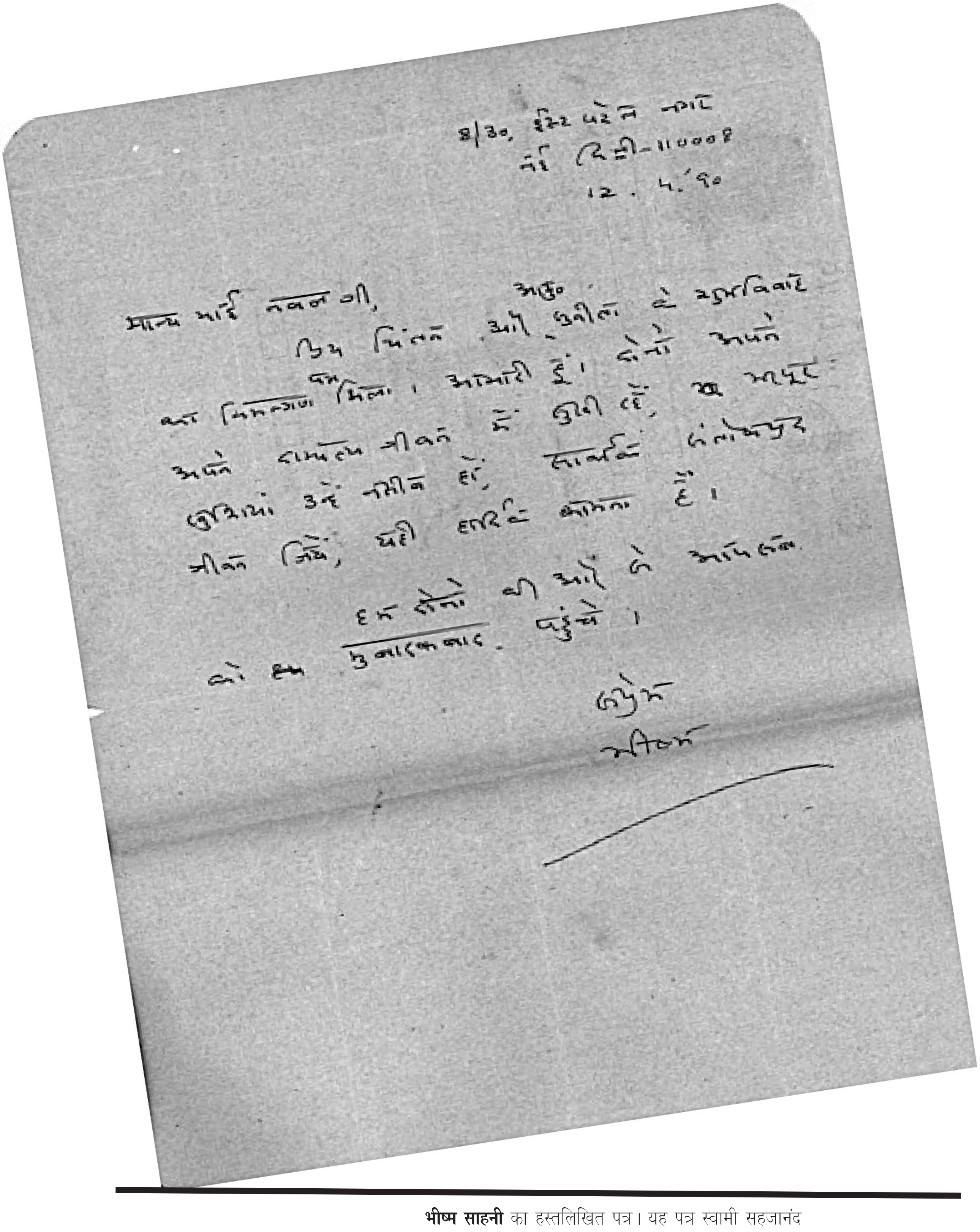

8/30, ईस्ट पटेल नगर
नई दिल्ली-110008
12.4.90

मान्य भाई नवल जी,

प्रिय चिंतन और अनुज प्रतीक्षा के शुभविवाह का निमन्त्रण पत्र मिला। आभारी हूँ। दोनों अपने अपने दाम्पत्य जीवन में सुखी रहें, व भरपूर खुशियां उन्हें नसीब हों, सार्थक संतोषप्रद जीवन जियें, यही हार्दिक कामना है।

इन दोनों की शादी के अवसर पर को हम फर्रुखाबाद पहुंचें।

सस्नेह
भीष्म

भीष्म साहनी का हस्तलिखित पत्र। यह पत्र स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

समीक्षा

■ सीमा शर्मा

दौड़ : भूमंडलीकरण के प्रभावों की पड़ताल

वरिष्ठ साहित्यकार ममता कालिया का लघु उपन्यास 'दौड़' अपनी तरह का अनूठा उपन्यास है। यह आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना अपने प्रकाशन वर्ष में था। 'दौड़' के ग्यारह से अधिक संस्करण आ चुके हैं। ये तथ्य इसकी लोकप्रियता और प्रासंगिकता को सिद्ध करते हैं। यह अभी तक अपनी तरह का अकेला उपन्यास है जो भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण के परिणामों की भारत के संदर्भ में पड़ताल करता है। भूमंडलीकरण बीसवी सदी की एक महत्वपूर्ण घटना है, यह दो चीजों पर बल देता है उदारीकरण और निजीकरण। उदारीकरण का अर्थ है- औद्योगिक सेवा क्षेत्रों की विभिन्न गतिविधियों से संबंधित नियमों में ढील देना और विदेशी कम्पनियों को घरेलू क्षेत्र में व्यापारिक और उत्पादन इकाइयां लगाने हेतु प्रोत्साहित करना। भूमंडलीकरण के आधुनिक रूपों का प्रारंभ दूसरे विश्वयुद्ध से हुआ परन्तु इसकी ओर अधिक ध्यान गत बीस वर्षों में गया। आधुनिक भूमंडलीकरण मुख्यतः विकसित देशों के इर्द-गिर्द केन्द्रित है। भूमंडलीकरण ने प्रत्येक देश को भिन्न-भिन्न ढंग से प्रभावित किया है। इसका प्रभाव एक देश से दूसरे देश में भी बदल जाता है तथा विकासशील देशों से विकसित देशों पर अलग होता है। भारत में सन् 1991 में अपनाई गई नीति से भूमंडलीकरण की शुरूआत हुई। भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण के नये आर्थिक परिदृश्य ने सूचना क्रांति की मदद से पूरी दुनिया को एक गाँव में तब्दील कर दिया। भौगोलिक दूरी के मायने धुँधले हो गये। दुनिया का ज्ञान सुलभ हुआ तो सभ्यताओं के बीच संवाद में भी तेजी-आयी, भारत भी इससे अछूता नहीं रहा। ममता कालिया ने इन परिस्थितियों को एक सजग दृष्टा की तरह देखा और समझा तथा इसके द्वारा पड़ने वाले प्रभावों को 'दौड़' में रेखांकित किया। 'राकेश' और 'रेखा' अपने दोनों बेटों 'पवन' और 'सघन' को जीवन की दौड़ में पीछे नहीं देखना चाहते थे। वे चाहते थे कि उनके बच्चे समय के साथ चलें। जीवन की दौड़ में कहीं पिछड़ न जाएँ, इसके लिए उन्होंने भरपूर प्रयास किया। पर एक समय ऐसा आता है जब उनके प्रयास उन्हीं पर भारी पड़ जाते हैं। उनकी निराशा रेखा के इन शब्दों में स्पष्टतः देखी जा सकती है- "पहले तुम्हें भय था कि बच्चे कहीं तुम जैसे आदर्शवादी न बन जाएँ इसीलिए उसे एम.बी.ए. कराया। अब वह यथार्थवादी बन गया है तो तुम्हें तकलीफ हो रही है।" (पृ. 41) वर्तमान स्थिति ऐसी हो गई है कि पहले बच्चों को दौड़ना सिखाते हैं जब वे दौड़ने लगते हैं तो माता पिता को लगता है कि उनके बच्चे उनसे दूर जा रहे हैं। यदि वे 'दौड़' रहे हैं तो उन्हें दौड़ना किसने सिखाया है?

युवा वर्ग की जीवन शैली बदल गयी है। अब उनका हर दिन एक प्रकार की दौड़ में बीत रहा है। आज उनके पास अपने लिए समय नहीं हैं तो माता-पिता या अन्य रिश्तेदारों के लिए समय कैसे निकालें? पति-पत्नी तक तो एक दूसरे को समय नहीं दे पा रहे हैं। पवन और स्टैला एक ऐसे दम्पत्ति हैं जो विवाह के तुरन्त बाद ही अलग रहने को विवश है परंतु उन्हें इस बात में कोई आपत्ति नहीं हैं। उन दोनों के लिए सबसे पहले कैरियर है। वे आपसी सहमति से अलग-अलग रहकर 'कैरियर' की ऊँचाइयाँ छूते हैं। राकेश और रेखा अपनी चिंता व्यक्त करते हैं कि इस प्रकार नव दम्पत्ति का इतनी दूर रहना ठीक नहीं है। इस पर पवन कहता है- "स्टैला तो इतनी व्यस्त रहती है कि इंटरनेट और फोन पर मुझसे बात करने की फुर्सत निकाल ले यही बहुत है। फिर जेट, सहारा, इंडियन एयरलाइंस का बिजनेस आप लोग चलने दोगे या नहीं। सिर्फ सात घंटे की उड़ान से हम लोग मिल सकते हैं।" (पृ.65) राकेश को ये बात समझ नहीं आती। वे पुनः पवन को समझाने का प्रयास करते हैं- "यानी सेटेलाइट और इंटरनेट से तुम लोगों का दाम्पत्य चलेगा?" यहाँ एक विचारगत दूरी है जो दो पीढ़ियों के बीच आ जाती हैं। गलत किसी को नहीं ठहराया जा सकता। दोनों अपनी जगह ठीक हैं। दोष परिस्थितियों का ही है जिनका सामना दोनों ही कर रहे हैं। लोगों में भौतिकतावाद निरंतर बढ़ रहा है। दिखावे की प्रवृत्ति भी दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। क्योंकि आवश्यकताएँ बढ़ रही हैं इसलिए धन की आवश्यकता भी बढ़ रही है। यही कारण है कि युवाओं में प्रतिस्पर्धा निरंतर बढ़ती जा रही है। इच्छापूर्ति के लिए युवा एक ऐसी 'दौड़' में दौड़ रहा है जहाँ उससे काफी कुछ छूटता जा रहा है। जीवन मूल्य, परम्पराएँ, संस्कृति, रिश्ते, परिवार का महत्व उनके लिए कम होता जा रहा है। युवाओं की सोच है- "जहाँ हर महीने का वेतन मिले वही जगह अपनी होती है।" रेखा जब पवन से एथिक्स की बात करती है तो पवन चिढ़कर कहता है, "मेरे हर काम में यह क्या एथिक्स, मौरैलिटी जैसे भारी भरकम पत्थर मारते रहते हैं। मैं जिस दुनिया में हूँ वहाँ एथिक्स की नहीं प्रोफेशनल ऐथिक्स की जरूरत है। चीजों को नई नज़र से देखना सीखिए, नहीं तो आप पुराने अखबार की तरह रद्दी की टोकरी में डाल दिए जाएंगे।" (पृ.66) एथिक्स एवं मोरैलिटी जैसे शब्द केवल पवन के लिए पत्थर के समान नहीं है। वरन् वह तो युवा वर्ग की मानसिकता का प्रतिनिधित्व करता है। युवा वर्ग का दृष्टिकोण नवीन है परंतु माता-पिता की सोच उनसे भिन्न है। यही कारण है कि दोनों एक दूसरे के साथ तालमेल नहीं बैठा पाते और दोनों पीढ़ियों के बीच खाई गहरी होती चली जाती है। इस समस्या का समाधान कोई एक पीढ़ी नहीं कर सकती इसके लिए दोनों के बीच सामंजस्य आवश्यक है।

भूमंडलीकरण एवं उदारीकरण के कुछ लाभ तो अवश्य हुए हैं। रोजगार के अवसर बढ़े हैं। सम्पूर्ण विश्व को एक 'ग्राम' में बदल

दिया है। परंतु फिर भी अकेलापन बढ़ता जा रहा है। भौतिक दूरियां तो कम हो रही हैं लेकिन मनों में दूरियाँ बढ़ती जा रही हैं। अकेलापन एक समस्या बनती जा रही है। वैसे तो अकेलापन हर आयु और वर्ग के लोगों में बढ़ा है फिर भी सबसे अधिक इसने वृद्धों को प्रभावित किया है। रेखा और राकेश के जीवन में भी यही भय व्याप्त है। रेखा के शब्दों में- "इसको (सघन) भी ले जाओगे तो हम दोनों बिल्कुल अकेले रह जाएंगे। वैसे भी यह सीनियर सिटिजन कॉलोनी बनती जा रही है। सबके बच्चे पढ़ लिखकर बाहर चले जा रहे हैं। घर-घर में एक बूढ़ा और एक बूढ़ी, एक कुत्ता और कार यही रह गया है।" (पृ.40) अपने बच्चों के जाने के विचार से ही रेखा और राकेश व्याकुल थे। जब वे दोनों वास्तव में चले गये तो उनकी अवस्था देखने लायक थी- "घर वही था, दर ओ दीवार वही थे, घर का सामान वही था, यहाँ तक की रूटीन भी वही था। परंतु पवन और सघन के माता-पिता को मानो वनवास मिल गया। अपने ही घर में वे आकुल पंछी की तरह फड़फड़ाते डोलते।" (पृ.74) अकेलापन झेलते राकेश और रेखा कहानी के पात्र नहीं हैं ये तो ऐसे पात्र हैं जो हर जगह आसानी से देखे जा सकते हैं। ये ऐसे माता-पिता हैं जो बच्चों को सुरक्षित भविष्य के लिए तैयार करते हैं परंतु स्वयं असुरक्षित जीवन जीने को विवश हैं। पर ये दोष युवा पीढ़ी का नहीं है, माता-पिता ही तो बच्चों को निरंतर आगे ही आगे बढ़ना सिखाते हैं।

'दौड़' उपन्यास में एक मार्मिक प्रकरण मिसेज सोनी का है। मिस्टर सोनी की मृत्यु पर उनका बेटा अंतिम संस्कार के लिए भी नहीं आ पाता और माँ को सुझाव देता है कि किसी को अपना बेटा बनाकर अंतिम संस्कार करवा लें। बेटे के सुझाव से आहत मिसेज सोनी कहती हैं- "रेडीमेड बेटे मिल जाएं यह कहाँ मुमकिन है। बाजार में सब चीज मोल मिल जाती है बच्चे नहीं मिलते।" (पृ.82) एक माता-पिता के लिए इससे भी बड़ी त्रासदी क्या हो सकती है कि अंतिम समय पर भी उनके बच्चे न पहुँच सकें और अंतिम संस्कार भी पड़ोसियों द्वारा किया जाए।

'दौड़' में ममता कालिया ने एक नई अवधारणा की ओर संकेत किया है - 'डिंक्स' (डबल इनकम नो किड्स)। क्योंकि स्त्रियों में भी आत्मनिर्भरता की चाह बढ़ रही है। ऐसे में पारिवारिक जिम्मेदारियाँ कौन संभाले। इसी का परिणाम है 'डिंक्स'। 'दौड़' उपन्यास की राजुल ऐसी ही पात्र है जिसे अपनी गर्भावस्था के कारण अपनी नौकरी गँवानी पड़ती है। राजुल को इस बात पर गहरा असंतोष है- "हिंदुस्तानी मर्द को सारे सुख चाहिए बस जिम्मेदारी नहीं चाहिए। मेरा कितना हर्ज हुआ। अच्छी भली सर्विस छोड़नी पड़ी। मेरी सब कलीग्स कहती थीं राजुल शादी करके अपनी आजादी चौपट करेगी और कुछ नहीं। आजकल तो डिंक्स का जमाना है। डबल इनकम नो किड्स। मैं सेंटिमेंटस के चक्कर में फँस गई।" (पृ.28) अगर ये अवधारणा बढ़ती है तो परिवार का अस्तित्व तो खतरे में आ जाएगा।

ममता कालिया ने इस उपन्यास में पात्रों का चित्रण बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। इसमें उन्होंने किसी पात्र को दोषी बनाने का प्रयास नहीं किया वरन् परिस्थितियों के अनुकूल पात्रों के चरित्र का सृजन किया है कई बार तो उनके पात्र स्वयं के कार्य एवं व्यवहारों का भी मूल्यांकन करते देखे जा सकते हैं। रेखा की इच्छा के विरूद्ध जब 'स्टैला' को पत्नी के रूप में चुनने का फैसला करता है। तो रेखा तिलमिला जाती है- "बेटियाँ पराई हो जाती हैं यह तो उसने देखा था पर बेटे पराए हो जाएँ वह भी शादी से पहले।" (पृ. 58) रेखा को अपना बेटा बदला सा लगता है। वह एक सामान्य माँ की तरह दुखी हो जाती है। जब राकेश उसे समझाने का प्रयास करते हैं कि 'मेरी माँ भी ऐसे ही दुखी हुई होगी।' पहले तो रेखा भड़क उठती है। परंतु जब उसे अपने विवाह की घटना याद आती है तो उसे अपनी गलती का भी अहसास हो जाता है- "बिल्कुल ऐसी तड़प उठी होगी राकेश की माता-पिता के कलेजे में जब उनकी देखी सर्वांग सुन्दरियों को ठुकराकर उसने रेखा से विवाह का मन बनाया होगा।" (पृ.60)

इस उपन्यास के सभी पात्र ऐसे हैं जो हमारे आसपास आसानी से देखे जा सकते हैं। उपन्यास की कोई घटना या पात्र ऐसा नहीं है जो बनावटी लगे। उपन्यास की भाषा भी ऐसी है जिसे समझने में पाठक को कोई कठिनाई नहीं होती वरन् भाषा इतनी सरल, सजीव एवं प्रभावशाली है कि पाठक को बाँधे रहती है। भाषा पात्रों एवं कहानी के अनुकूल है जो उपन्यास की पठनीयता में वृद्धि करती है और पाठक की भावनाओं को झकझोरने में समर्थ है। ममता कालिया ने 'दौड़' में दिखाया है कि हम बाजार विकसित कर रहे हैं लेकिन घर खत्म कर रहे हैं। केवल महानगरों में नहीं कस्बों में भी परिवार बिखरते जा रहे हैं। वैश्वीकरण, उदारीकरण और मुक्तबाजार प्रणाली ने नई समस्याओं को जन्म दिया है। सांस्कृतिक और मानवीय मूल्यों का विघटन हो रहा है। हर चीज के ऊपर कीमत का एक बिल्ला लगा हुआ है। इसमें रिश्तों की आत्मीयता, ऊष्मा और ऊर्जा खत्म हो रही है। युवा एक ऐसी दौड़ में दौड़ रहे हैं जहाँ उनसे काफी कुछ छूटता जा रहा है। 'दौड़' लघु उपन्यास इसी संकट को रेखांकित करता है। यह एक संग्रहणीय उपन्यास है।

दौड़ (लघु उपन्यास)
ममता कालिया
वाणी प्रकाशन
दिल्ली
मूल्य : 200/-

कई महत्वपूर्ण पत्रिकाओं में
कहानियां प्रकाशित। मेरठ में अध्यापन।
संपर्क : 09457034271

हिंदी साहित्य और साहित्येत्तर विधाए : इतिहास के झरोखे से हिंदोस्थान

■ रामनिरंजन परिमलेंदु

कालाकांकर, जिला प्रतापगढ़ (उत्तर प्रदेश) के लब्ध प्रतिष्ठ ताल्लुकेदार राजा रामपाल सिंह ने अगस्त, 1883 में **हिन्दोस्थान** नामक द्विभाषी मासिक पत्र का प्रकाशनारंभ लंदन में किया था। यह हिंदी और अंग्रेजी दो भाषाओं का संयुक्त मासिक पत्र था। जुलाई 1883 से अगस्त 1885 तक यह लंदन से ही प्रकाशित हुआ। इस अवधि में उर्दू भी सम्मिलित कर दी गई थी। अर्थात यह तीन भाषाओं का संयुक्त मासिक पत्र में परिवर्तित कर दिया गया था। इसके संपादक, प्रकाशक, अथवा स्वत्वाधिकारी राजा रामपाल सिंह ही थे। उक्त अवधि में वे इंग्लैण्ड में ही थे। सारांश यह है कि अगस्त 1883 से उस वर्ष के नवंबर माह तक अर्थात चार माह तक अंग्रेजी और हिंदी दो भाषाओं में हिन्दोस्थान का प्रकाशन हुआ। दिसंबर 1883 से अक्टूबर 1884 तक अंग्रेजी हिंदी और उर्दू अर्थात् तीन भाषाओं में इसका संयुक्त प्रकाशन माषिक पत्र के रूप में नियमित रूप से हुआ। इसके पूर्व लंदन अथवा भारत से बाहर किसी भी अन्य देश से किसी भी मासिक पत्र का प्रकाशन नहीं हुआ था जिसमें हिंदी भी सम्मिलित की गई हो। राजा रामपाल सिंह सर्वप्रथम भारतीय थे जिन्होंने भारत से बाहर लंदन से अपनी पत्रकारिता की शुरूआत की अथवा नींव डाली। यह उनकी दूरदृष्टि ही थी जिसके फलस्वरूप उन्होंने लंदन में हिंदी पत्रकारिता के साथ अंग्रेजी और बाद में उर्दू को भी सम्मिलित कर त्रिभाषी मासिक पत्र की परिकल्पना को साकार रूप दिया। लंदन से प्रकाशित हिन्दोस्थान नामक मासिक पत्र में अंग्रेजी भाषा को सम्मिलित करने का तात्पर्य यह था कि इंग्लैण्ड की जनता भारत की समस्याओं से अवगत हो और भारत की दुखती हुई नब्ज पर उसकी भी उंगली हो। हिन्दोस्थान के लंदन प्रकाशन काल में उर्दू को सम्मिलित करने का तात्पर्य यह था कि विक्टोरिया के शासन काल में भारत में उर्दू ही न्यायालयों और कार्यालयों की स्वीकृत भाषा थी जिसकी लिपि फारसी थी। देवनागरी लिपि में लिखित हिंदी को तत्कालीन शासन और प्रशासन में न्यायोचित स्थान नहीं मिल सका था और हिंदी के प्रति अवज्ञा, अवमानना और अपमान की निर्मम स्थिति थी।

हिंदी और उर्दू के लेख इसमें राजा रामपाल सिंह स्वयं लिखते थे और अंग्रेजी के लेख जार्ज टेंम्पल नामक एक अंग्रेज पत्रकार लिखता था। कालान्तर में राजा साहब ने उसे अपने व्यय से भारत आमंत्रित किया और कालाकांकर में उससे हिन्दोस्थान के अंग्रेजी संस्करण का संपादन भी कराया था। नवंबर 1884 ई. से हिंदोस्थान एक साप्ताहिक पत्र के रूप में परिवर्तित हो गया जिसमें मात्र अंग्रेजी भाषा ही रह गयी और हिंदी एवं उर्दू का निष्कासन हो गया। जुलाई 1885 तक साप्ताहिक अंग्रेजी पत्र हिंदोस्थान का प्रकाशन लंदन से ही हुआ।

बालमुकुंद गुप्त (कार्तिक शुक्ला चार विक्रम संवत् 1992 सन् 1865 ई. भाद्र शुक्ला एकादशी विक्रम संवत 1964 तदनुसार 18 सितंबर 1907 ई.) ने संवाद पत्रों का इतिहास में कहा है कि मात्र अंग्रेजी में प्रकाशित साप्ताहिक पत्र हिन्दोस्थान जुलाई 1895 ई. तक लंदन

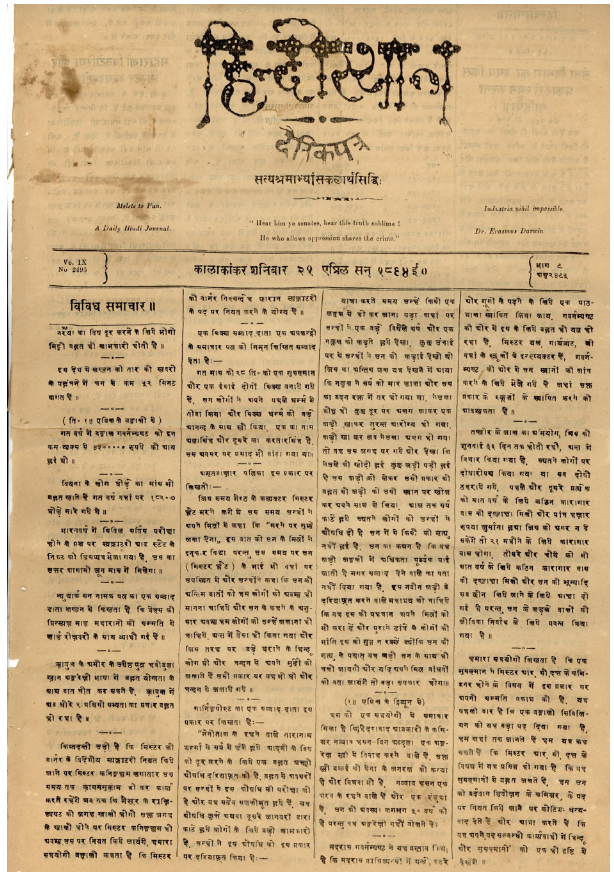

से प्रकाशित होता रहा। (बालमुकुंद गुप्त निबंधावली, संवाद पत्रों का इतिहास, पृ.343)

1नवंबर 1885 ई. को भारतवर्ष में सबसे पहली बार एकमात्र देवनागरी लिपि और हिंदी भाषा में किसी भी दैनिक पत्र का प्रकाशनारंभ हुआ। सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, और सांस्कृतिक दृष्टि से यह एकमात्र हिंदी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रथम दैनिक पत्र माना जा सकता है। वस्तुतः हिन्दोस्थान ने ही हिंदी में किसी भी दैनिक पत्र का शुभारंभ कर हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में एक नए युग का प्रवर्तन किया। दैनिक पत्र के प्रकाशन की परिणामोन्मुख परिकल्पना हिन्दोस्थान के प्रकाशन के पूर्व हिंदी में नहीं की गई थी। इसके प्रकाशन का संपूर्ण श्रेय एकमात्र राजा रामपाल सिंह को ही था। पुनः कहूँगा कि 1 नवंबर 1885 को ही वस्तुतः हिंदी में किसी स्वतंत्र, दीर्घजीवी और सामाजिक, राजनीतिक चेतना संपन्न दैनिक पत्र का अभ्युद य हो सका। इसका प्रकाशन गाँव से हुआ, किसी महानगर से नहीं। यह भी एक बड़ी बात है। क्योंकि भारत मूलतः गाँवों का ही देश है।

HINDOSTHAN

हिन्दोस्थान

दैनिकपत्र

सत्यश्रमाभ्यांसकलार्थसिद्धिः

Melete to Pan.

A Daily Hindi Journal.

"Hear him ye senates, hear this truth sublime!
He who allows oppression shares the crime."

Industria nihil impossibile.

Dr. Erasmus Darwin.

कालाकांकर मङ्गलवार ३ एप्रिल सन १८६४ ई०

विविध समाचार॥

साप्ताहिक सूचना॥

राजा रामपाल सिंह हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि के सच्चे पुजारी थे। उन्होंने अनेक देशहितैषी कार्य किए। हिन्दोस्थान के प्रकाशन के द्वारा पहली बार उन्होंने ही यह प्रमाणित कर दिया कि हिंदी में दैनिक पत्र का प्रकाशन भी नियमित रूप से किया जा सकता है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिंदी भाषा और साहित्य के सर्वमान्य नेता थे। उन्होंने अनेक मासिक और साप्ताहिक पत्रों का प्रकाशन किया। किंतु दैनिक पत्र के प्रकाशन की परिकल्पना उन्होंने भी कभी नहीं की थी। पं. बालकृष्ण भट्ट, पं. राधाचरण गोस्वामी, पं. प्रतापनारायण मिश्र, बद्री नारायण चौधरी प्रेमधन आदि भारतेन्दु मंडल के अनेक साहित्यकारों ने अपनी-अपनी आर्थिक सीमाओं में रहकर हिंदी पत्रकारिता को उत्कर्ष प्रदान किए। किंतु उन्होंने कभी भी किसी दैनिक पत्र के प्रकाशन का साहस नहीं किया। भारतेन्दु युग की सभी हिंदी पत्रिकाएँ आर्थिक संकट के भयंकर रोग से पीड़ित थीं। हिंदी के पाठकों और ग्राहकों की संख्या नगण्य ही थी। किसी भी हिंदी पत्रिका को खरीद कर पढ़ने अथवा वार्षिक ग्राहक शुल्क देने की प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव हिंदी पट्टी में था। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कोई भी हिंदी पत्रिका साधन संपन्न नहीं थी। साधन संपन्न माने जाने के बावजूद भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा संपादित कविवचनसुधा, बालाबोधिनी और हरिश्चंद चंद्रिका जैसी महत्वपूर्ण पत्रिकाएं भी निर्धारित समय पर कभी भी प्रकाशित नहीं हो पाती थीं। बालकृष्ण भट्ट के संपादन में इलाहाबाद से अगस्त 1877 ई. से 20वीं शताब्दी के प्रथम दशक तक प्रकाशित मासिक पत्र हिंदी प्रदीप तत्कालीन युग में सर्वाधिक महत्वपूर्ण होने के बावजूद निरंतर आर्थिक संकट के रोग से पीड़ित रहा और उसे मुद्रण वास्ते अपना कोई स्वतंत्र छोटा सा प्रेस भी मयस्सर नहीं हुआ। राधाचरण गोस्वामी द्वारा संपादित और वृन्दावन (मथुरा) से प्रकाशित मासिक पत्र भारतेन्दु असमय में ही बंद हो गया। प्रतापनारायण मिश्र द्वारा संपादित मासिक ब्राह्मण भी आर्थिक दुर्व्यवस्था से निरंतर पीड़ित रहा। यही स्थिति 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अर्थात भारतेंदु काल में सभी हिंदी पत्र, पत्रिकाओं की थी। ऐसी स्थिति में दैनिक पत्र की परिकल्पना भी करना अत्यंत दुष्कर था।

राजा रामपाल सिंह साहित्यकार नहीं थे। किंतु हिंदी भाषा के हितैषी थे। हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में वे एक जलती हुई मशाल थे। नियमित रूप से एक दैनिक पत्र का प्रकाशन कर उन्होंने हिंदी भाषा, हिंदी पत्रकारिता, हिंदी साहित्य को उपकृत किया। इतना ही नहीं, उनके प्रधान संपादन और मार्गदर्शन में तत्कालीन युग के संपूर्ण भारतीय जनमानस को प्रतिबिंबित करने का सतत प्रयास हिन्दोस्थान ने निरंतर किए। हिन्दोस्थान के कालाकांकर संस्करण के आरंभिक काल में उन्होंने पं. मदनमोहन मालवीय को सादर आमंत्रित कर इस दैनिक पत्र के संपादन का दायित्व सौंप दिया। मालवीय जी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के पोषक ही नहीं, संरक्षक भी थे। 1887 ई. में अयोध्या प्रसाद खत्री के संपादन में खड़ी बोली का पद्य शीर्षक पुस्तक का प्रकाशन मुजफ्फरपुर (बिहार) से हुआ था। यह हिंदी खड़ी बोली कविताओं का सर्वप्रथम संकलन है। इस पुस्तक के माध्यम से हिंदी जगत में खड़ी बोली के पद्य का आंदोलन हुआ। संपूर्ण संसार में हिंदी एक मात्र ऐसी भाषा थी जिसके गद्य और पद्य में एकरूपता का अभाव था। हिंदी कविता की भाषा ब्रजभाषा थी, हिंदी में गद्य और पद्य की इस विसंगति को दूर करने के लिए खत्री जी ने एक आंदोलन चलाया। इस आंदोलन में पं. श्रीधर पाठक, पं. चंद्रशेखरधर मिश्र आदि तत्कालीन अनेक साहित्यकार उनके समर्थक थे। 11 नवंबर, 1887 ई. के हिन्दोस्थान के अंक में पं. राधाचरण गोस्वामी ने खड़ी बोली का पद्य के विरोध में तीखी टिप्पणी की थी। वस्तुतः खड़ी बोली का पद्य के विरोध में पहली नकारात्मक टिप्पणी हिन्दोस्थान 11 नवंबर, 1887 ई. में ही हुई।

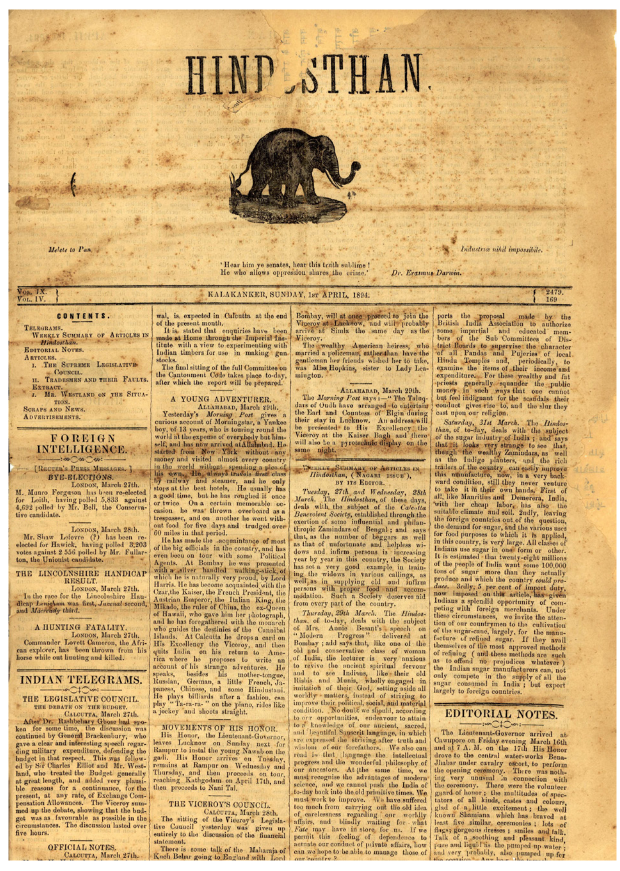

HINDOSTHAN.

Melete to Pan.

"Hear him ye senates, hear this truth sublime!
He who allows oppression shares the crime."

Industria nihil impossibile.

Dr. Erasmus Darwin.

KALAKANKER, SUNDAY, 1st APRIL, 1894.

CONTENTS.

FOREIGN INTELLIGENCE.

A YOUNG ADVENTURER.

THE LINCOLNSHIRE HANDICAP RESULT.

A HUNTING FATALITY.

INDIAN TELEGRAMS.

THE LEGISLATIVE COUNCIL.

MOVEMENTS OF HIS HONOR.

THE VICEROY'S COUNCIL.

OFFICIAL NOTES.

EDITORIAL NOTES.

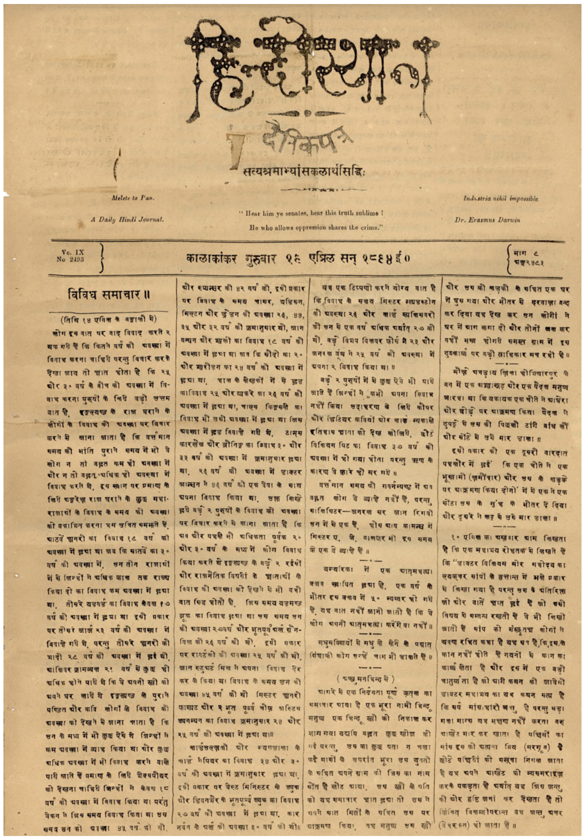
हिन्दोस्थान

दैनिकपत्र

सत्यश्रमाभ्यांसकलार्थसिद्धिः

Melete to Pan. | Industria nihil impossibile

A Daily Hindi Journal. | "Hear him ye senates, hear this truth sublime! He who allows oppression shares the crime." | Dr. Erasmus Darwin

Vo. IX No 2403 | कालाकांकर गुरुवार १९ एप्रिल सन् १८९४ ई० | भाग ८

विविध समाचार॥

इस नकारात्मक टिप्पणी का सर्वप्रथम समुचित उत्तर श्रीधर पाठक ने यथा समय दिया था। राधाचरण गोस्वामी और श्रीधर पाठक का वाद-विवाद 1887-88 में हिन्दोस्थान के अंकों में बहुत हुआ। किंतु हिन्दोस्थान और उसके स्वत्वाधिकारी राजा रामपाल सिंह अथवा हिन्दोस्थान और इसके संपादक पंडित मदनमोहन मालवीय ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में कभी भी हस्तक्षेप नहीं किया। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है। इस साहित्यिक वाद-विवाद का प्रतिफल यह हुआ कि खड़ी बोली कविता के प्रति लोगों का आकर्षण प्रचुर मात्रा में बढ़ गया और कालान्तर में खड़ी बोली कविता ने ब्रजभाषा कविता को पदच्युत कर अपने को सर्वमान्य ढंग से स्थापित कर दिया। निःसंदेह इस सत्य का आरंभिक श्रेय हिन्दोस्थान को ही है।

भारत की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक दशाओं के सुधार करने के अतिरिक्त इस देश की आर्थिक स्थिति के सुधार के विषय में राजा रामपाल सिंह के सिद्धांत स्वतंत्र और निष्पक्ष थे। उन्होंने भारतीयों को सदैव मतमतांतर के संघर्षों का परित्याग कर कृषि, वाणिज्य, शिल्प और विभिन्न उद्यमों की उन्नति करने के लिए विशेष रूप से प्रेरित किया। उन्होंने भारतीयों को विभिन्न देशों में जाकर श्रम के द्वारा धनोपार्जन करने के लिए उत्साहित किया। एक ही प्रकार के उद्यम में लगे रहने की अपेक्षा विभिन्न प्रकार के उपयोगी उद्यमों को अपनाना परम आवश्यक है। उन्होंने अपने राज्य में नील की खेती करवाई। वाणिज्य और व्यापार में भी उनकी प्रवीणता थी। व्यायाम, आखेट और घोड़े की सवारी करने में उनकी गहरी अभिरुचि थी। वे गान विद्या में कुशल थे। वे शतरंज में भी माहिर थे। शतरंज में किसी ने कभी भी उन्हें परास्त नहीं किया। इस प्रकार उनका व्यक्तित्व नाना प्रकार की विशेषताओं से परिपूर्ण था।

हिंदी के सर्वप्रथम सर्वाधित महत्वपूर्ण दैनिक पत्र हिन्दोस्थान के प्रत्येक अंक के मुख्य पृष्ठ पर यह सिद्धांत सूत्र प्रकाशित होता था-

सत्यश्रामाभ्यांसकलार्थसद्धिः

देवनागरी लिपि में लिखित **हिन्दोस्थान** के पूर्व रोमन लिपि में भी इस दैनिक पत्र का नाम बड़े अक्षरों में छपता था।

अंग्रेजी साप्ताहिक **हिन्दोस्थान** सहित दैनिक पत्र **हिन्दोस्थान** का दैनिक मूल्य एक पैसा अर्थात पांच रूपये वार्षिक शुल्क था। इसका वार्षिक डाक महसूस पांच रुपये था अर्थात इसका डाक-व्यय सहित वार्षिक शुल्क दस रूपये था। हिन्दोस्थान दैनिक और साप्ताहिक अंग्रेजी पत्र के ग्राहकों से डाक व्यय सहित अग्रिम तीन माह के भीतर वार्षिक शुल्क अदा करने वाले ग्राहकों से मात्र दस रुपये लिए जाते थे और तीन माह के पश्चात वार्षिक शुल्क देने वाले ग्राहकों को वार्षिक शुल्क साढ़े बारह रुपये देने पड़ते थे। प्रत्येक रविवार को दैनिक हिन्दोस्थान के हिंदी संस्करण का प्रकाशन स्थगित रहता था।

हिन्दोस्थान के मात्र हिंदी संस्करण का डाक व्यय सहित वार्षिक मूल्य तीन माह के भीतर देने वाले ग्राहकों से आठ रुपये साढ़े छः आने लिए जाते थे। हिन्दोस्थान का अंग्रेजी में साप्ताहिक संस्करण भी प्रकाशित किया जाता था, जिसका अग्रिम वार्षिक शुल्क अढ़ाई रुपये था। विलंब से इसका वार्षिक शुल्क देने वाले ग्राहकों से तीन रुपये आठ आने लिए जाते थे। इसका छः महीने का अग्रिम शुल्क डेढ़ रुपये था। विलंब से वार्षिक शुल्क देने वाले ग्राहकों से एक रुपया साढ़े नौ आने लिए जाते थे। इसके तीन माह का अग्रिम शुल्क मात्र एक रुपया था। विलंब से तीन माह का शुल्क अदा करने वालों से एक रुपया चार आने लिए जाते थे। इसकी एक प्रति का मूल्य डेढ़ आना था। यदि आठ पत्र अंग्रेजी सहित एक ही लिफाफे में दिये जाते थे तो इसका डाक शुल्क नहीं लिया जाता था। अर्थात आठ पत्रों का मूल्य चार रुपये लिए जाते थे। किसी भी वर्ष के तीन मास के भीतर अग्रिम वार्षिक शुल्क देने वाले ग्राहकों को मूल्य में रियायत दी जाती थी।

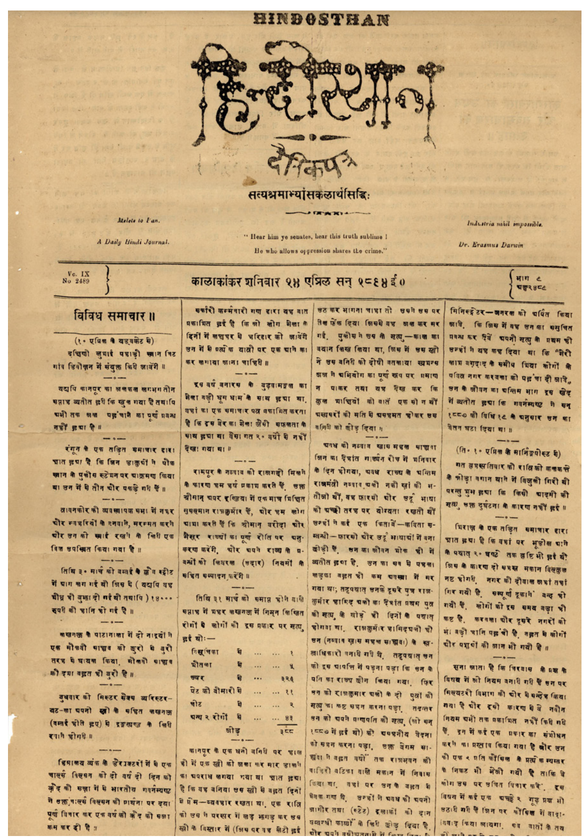
HINDOSTHAN

हिन्दोस्थान

दैनिकपत्र

सत्यश्रमाभ्यांसकलार्थसिद्धिः

Melete to Pan. | Industria nihil impossibile

A Daily Hindi Journal. | "Hear him ye senates, hear this truth sublime! He who allows oppression shares the crime." | Dr. Erasmus Darwin

Vo. IX No 2405 | कालाकांकर शनिवार २१ एप्रिल सन् १८९४ ई० | भाग ८

विविध समाचार॥

किसी एक ग्राहक द्वारा पांच रुपये वार्षिक शुल्क अग्रिम प्रदान करने पर हिन्दोस्थान अंग्रेजी संस्करण के साथ लेने की सुविधा थी। तीन मास के उपरांत सवा छह रुपये इसके देने पड़ते थे। ऐसे ग्राहकों को सप्ताह भर के पत्र एक लिफाफे में ही प्रेषित किए जाते थे। मात्र इसके हिंदी संस्करण लेने पर चार रुपये चार आने अग्रिम स्वरूप लिए जाते थे। तीन मास के पश्चात वार्षिक शुल्क देने वालों को पांच रुपये चार आने देने पड़ते थे। मात्र तीन महीने की अवधि के लिए कोई ग्राहक नहीं हो सकता था। जो ग्राहक तीन माह से पहले पत्र लेना बंद कर देते थे उनसे तीन महीने का ही शुल्क लिया जाता था।

विज्ञापन की छपाई में प्रति पंक्ति दो पैसे लिए जाते थे, जो सज्जन विशेष दिनों के लिए विज्ञापन देने थे, उन्हें कुछ विशेष प्रकार की रियायत दी जाती थी।

हिन्दोस्थान संबंधी लेख, पत्र और मनीआर्डर आदि इस पत्र

हिन्दोस्थान

दैनिकपत्र

सत्यश्रमाभ्यांसकलार्थसिद्धिः

Melete to Pan.

A Daily Hindi Journal.

"Hear him ye senates, hear this truth sublime!
He who allows oppression shares the crime."

Industria nihil impossible.

Dr. Erasmus Darwin

Vo. IX No 2487 | कालाकांकर गुरुबार १२ एप्रिल सन् १८९४ ई० | भाग ९ संख्या २४८७

विविध समाचार॥

के स्वत्वाधिकारी राजा रामपाल सिंह और हिन्दोस्थान के प्रबंधक और संपादक के नाम ही प्रेषित करने का प्रावधान था। लेखों में व्यक्त विचारों का दायित्व हिन्दोस्थान के प्रबंधन पर नहीं था। उस कालखंड में अनेक लोग हिन्दोस्थान के संपादक के नाम लिखित पत्रों में अथवा प्रकाशनार्थ लेखों में अपने नाम का उल्लेख ही नहीं करते थे। ऐसे लेखों का प्रकाशन इस पत्र में नही किया जाता था। तत्कालीन सरकार अथवा किसी व्यक्ति विशेष के विरुद्ध लिखे लेखों का प्रकाशन इसमें नहीं किया जाता था। जो महाशय अपने नाम का प्रकाशन किसी कारणवश नहीं चाहते थे, उन्हें अपने नाम का उल्लेख रचना के किसी एक पृष्ठ पर कर देना अनिवार्य था। पाठकों, लेखकों अथवा ग्राहकों से पत्रोत्तर के लिए आधा आने का टिकट भेजना अनिवार्य था। टिकट रहित पत्र लौटा दिये जाते थे। अस्वीकृत पत्रों का उत्तर नहीं दिया जाता था। राजा रामपाल सिंह का नाम इस हिन्दोस्थान के मैनेजर और संपादक के रूप में प्रकाशित किया जाता था। संपादन कार्य के मुख्य दायित्व की पूर्ति करने वाला व्यक्ति ही संयुक्त संपादक होता था। संयुक्त संपादक पर ही संपादन का पूर्ण दायित्व रहता था। अन्य लोग अथवा कम से कम दो व्यक्ति इसके सहायक संपादक रहते थे।

दैनिक पत्र हिन्दोस्थान में विभिन्न संवर्गों के पाठकों और ग्राहकों की आवश्यकता और रुचि को ध्यान में रखकर संपादन कार्य संपन्न किया जाता था। इसमें वाणिज्य समाचार का प्रकाशन भी किया जाता था। जिसमें कालाकांकर की दैनिक हाट के भाव का समावेश भी रहता था। संपादकीय अग्रलेख इस दैनिक पत्र के प्रत्येक अंक में रहता था जिसमें संपूर्ण भारतीय समाज और राजनीति के बिंब और प्रतिबिंब भी रहते थे। संपादकीय अग्रलेख के पश्चात् 'संपादकीय टिप्पणियाँ' शीर्षक स्तंभ का प्रावधान था। 'संपादकीय टिप्पणीयाँ' शीर्षक स्तंभ में विषयों की विविधता रहती थी। 1890 के दशक के देश, समाज और राजनीति में एक विशेष प्रकार की दिशा में पत्र की विशेष रीति और नीति थी। 'तड़ित समाचार' शीर्षक स्तंभ में विदेशों के समाचार रहते थे। देशी शीर्षक स्तंभों में भारत के विभिन्न क्षेत्रों की घटनाओं का वर्णन एवं चित्रण रहता था। रायल साइज के चार बड़े पृष्ठों का यह दैनिक पत्र हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में एक अभिनव प्रयोग ही था।

साहित्य और साहित्यिक पत्रिकाओं के
इतिहास पर महत्वपूर्ण तथ्यपरक
दस्तावेजों के संपादन की कई पुस्तकें।
बिहार में रहते हैं।
संपर्क : 09470853118

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की प्रकाशन योजना के अंतर्गत प्रकाशन

छंद-छंद पर कुमकुम : डॉ. वागीश शुक्ल
प्रभात प्रकाशन, दिल्ली मूल्य - 375/

रघुवीर सहाय : रचनाओं के बहाने -- एक संस्मरण
मनोहरश्याम जोशी
वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य - 150/

स्मृति, मति और प्रज्ञा : धर्मपाल से उदयन वाजपेयी
की बातचीत, उदयन वाजपेयी
वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य - 125/

हिंदी प्रयोग : एक शैक्षिक व्याकरण,
डॉ.पी.सी. जैन
वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य - 350/

काहे को ब्याही बिदेस रे...

■ गोपाल शर्मा

अमीर खुसरो के बारे में लिखते हुए यह बात हमें ध्यान रखनी चाहिए कि अमीर खुसरो हिंदी-उर्दू के पहले कवि माने गये है। अमीर खुसरो की 199 किताबें फारसी में प्रकाशित हुईं। जिनमें से 45 उपलब्ध हैं। हिंदी और उर्दू को उन्होंने हिंदवी नाम दिया था। डा. भोलानाथ की किताब 'अमीर खुसरो का हिंदी साहित्य' के परिप्रेक्ष्य में मैं यह लिख रहा हूँ लेकिन उनका हिंदी या उर्दू काव्य बिल्कुल ही छपी हुई या लिखी हुई शक्ल में नहीं है। डा. तिवारी ने शायद ब्रज प्रदेश नहीं देखा था। जो हरियाणा, राजस्थान, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और उत्तर पूर्व राजस्थान के सवाई माधोपुर तक फैला हुआ है। इसके अलावा ब्रज से ही निकली बुंदेलखंड की बोली में यह बहुत अधिक प्रसिद्ध है। जैसे ब्रज के लोक कवि जावरे के सुखराम बुंदेलखंडी में सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। इसी तरह लोकोक्तियों में बसे हुए अमीर खुसरो को वह पकड़ नहीं पाये। अमीर खुसरो जो लोक में बसे हुए हैं ब्रज में जिसमें 'काहे को ब्याही बिदेस रे...सुन बाबुल मोरे' जैसा गीत जो सर्वाधिक लोक प्रिय है। शायद डा. भोलानाथ तिवारी जो गाजीपुर में जन्में थे अवधी से अधिक प्रभावित रहे। वह लिखते हैं।

'छाप-तिलक तज दीन्हों रे तोसे नैना मिला के' इसे वह अवधी का बताते हैं और 'उन पर अवधी का प्रभाव ब्रज की बनिस्बत अधिक है' जबकि ऐसा नहीं है। **'छाप-तिलक तज दीनों रे तोसे नैना मिला के'** यह ब्रज में भी हुबहू वैसे ही मान्यता प्राप्त है जैसे अवधी में है। 'दीन्हों' और दीनो का बस फर्क है। जैसे

भैंस चढ़ी बबूल पे, 'लप-लप गूलर खाय,

उतर आ मेरी रांड की कहीं हिफ्ज ना फर जाय' इसे ब्रज के रसियों में देखा जा सकता है।

सासु मेरी गूलरिया पै बूढ़ौ बंदर चढ़ि गयो
'ऐजी 'लप-लप गूलर खाय'।
'लप-लप गूलर खाय' लोकोक्ति हो गई है ब्रज में। ऐसे ही
काहे को ब्याही बिदेस रे...सुन बाबुल मेरे
काहे को सींचौ तुलसी को बिरवा
काहे को पाली धीय रे... सुन बाबुल मेरे
कौन को छाये बाबुल महला-दुमहला
कौन को ढूंढ़ौ परदेस रे... सुन बाबुल मेरे

ब्रज भाषा का यह गीत बरबस ही आखें भिगो देता हैं जो निश्चित ही अमीर खुसरो की देन है। इस किताब में यह गीत भी नहीं है। ऐसे ही बहुत सारे गीत छूट गये हैं। जो कि 'आल इंडिया रेडियों' में भी रिकार्ड हुए हैं। डॉ. भोलानाथ तिवारी बहुत बड़े भाषा विज्ञानी कहलाते हैं लेकिन भाषा विज्ञानी होने के बावजूद भी उनमें ब्रज की बिल्कुल भी समझ नहीं है। इसलिए वह अमीर खुसरो को ब्रज से ज्यादा अवधी से प्रभावित बताते हैं। ब्रज भाषा अपने मूल स्वरूप में दिल्ली से दक्षिण मथुरा की भाषा है। दिल्ली इसके प्रभाव में बहुत अधिक रही और पटियाली जो एटा जिले में है दिल्ली से लेकर इसमें खड़ी बोली का रूप आता गया।

बहुत कुछ यह फारसी जो कि सल्तनत काल में राज दरबार की भाषा रही उसकी वजह से खड़ी बोली का प्रादुर्भाव हुआ। खड़ी बोली मेरठ, बुलंदशहर, दिल्ली, पलवल के बीच पैदा हुई बोली थी। लेकिन बुलंदशहर और पलवल की खड़ी बोली पर बहुत ज्यादा असर ब्रज भाषा का था। दिल्ली और मेरठ की बोली पर असर तो था लेकिन उतना नहीं था। बाद में मीर अम्मन देहलवी ने जॉन गिलक्रिस्ट के कहने पर जो उर्दू को शाहजहाँ के 'उर्दू-ए-मुअल्ला' की जुबान कहता है वह भी बहुत ज्यादा ब्रज भाषा से प्रभावित है। जैसे-

सीस भारी जरा देखें
जो भी कनफरा देखें

वगैरह दरअसल ब्रज का ही रूप है जो मीर अम्मन देहलवी ने 'बागो-बहार' में लिखा है।

ब्रज भाषा का यह दुर्भाग्य रहा कि ब्रज भाषा में या ब्रज भाषी क्षेत्र के लिखने वाले तो बहुत रहे लेकिन कोई बड़ा भाषा-वैज्ञानिक पैदा नहीं हुआ। दरसल ब्रज सांस्कृतिक तौर से इतना आगे था। बुंदेलखण्डी, हरियाणवी, अवधी, भोजपुरी वगैरह को सुनकर एक हल्की टेढ़ी मुस्कान मुसकाता था और आगे बढ़ जाता था। सांस्कृतिक तौर पर इन्हें दोयम दर्जे का समझता था। इसीलिए साहित्यकार तो बहुत पैदा हुए ब्रज में, भाषा वैज्ञानिक एक भी अच्छा नहीं हुआ। इस तरह यह इलाका पिछड़ गया।

डॉ. भोलानाथ तिवारी की किताब अमीर खुसरो को पढ़कर ऐसी ही एक हल्की-टेढ़ी मुसकान मेरे चेहरे पर आयी। अमीर खुसरो आज भी ब्रज के सबसे लोकप्रिय कवि हैं।

ना हंसि कबहूं कर गहे, ना रिस करिकें केस
जैसे कंता घर रहे वैसे रहे बिदेस

अमीर खुसरो का यह छंद ब्रज में ही नहीं अवधी, भोजपुरी मे भी प्रसिद्ध है। लेकिन अधिकांशतः इसका दूसरा हिस्सा ही प्रसिद्ध है। 'रिस करिकें केस' वाला नहीं है। क्योंकि वह उनकी समझ में नहीं आता।

फिर भी डॉ. भोलानाथ तिवारी ने अमीर खुसरो पर एक किताब तो लिखी है। जिसमें कमियां हैं। लेकिन उसका स्वागत करना चाहिए। 'अमीर खुसरो और उनका हिंदी साहित्य' का नाम दरअसल अमीर खुसरो का हिंदी उर्दू साहित्य होना चाहिए था। प्रेमचंद के शब्दों में कहें तो ''ये हिंदी वालों की खास कुरेदन है। यह घाव जरा सी पूर्वा हवा चलें, तो हरा हो जाता है।''

मुंबई के वरिष्ठतम पत्रकार।
जीवन को यायावरी सा जीते हैं।
संपर्क : 09221407125

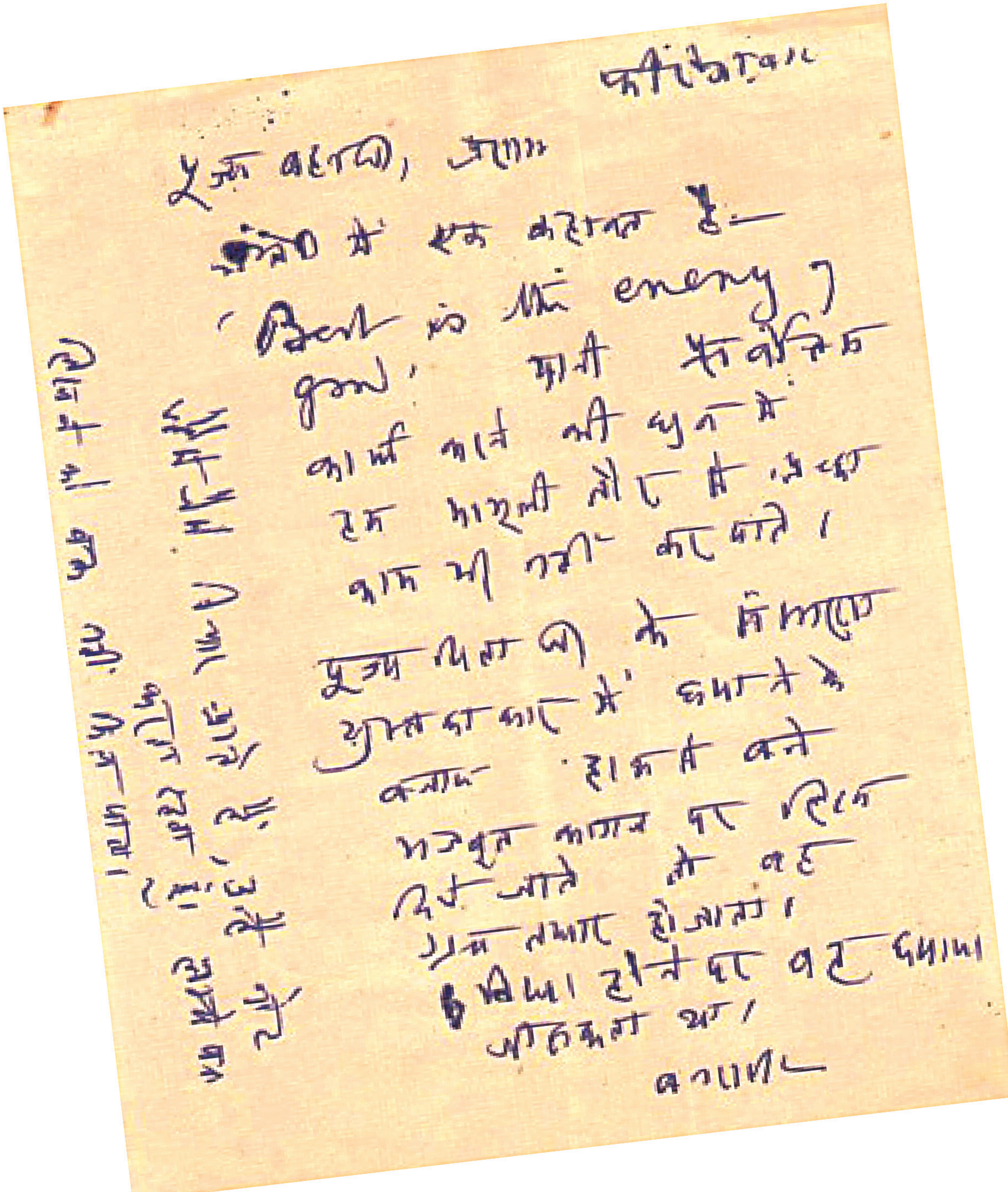

बनारसी दास चतुर्वेदी का हस्तलिखित पत्र। यह पत्र स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

मेरी रचना प्रक्रिया

तीसरी काया

■ शमशेर बहादुर सिंह

मुझे तो अक्सर ही यह खुद नहीं मालूम होता कि रचना कहाँ से निकली और किस दिशा में जा रही है और अपनी सामग्री कहाँ-कहाँ से इकट्ठा करती और एक दूसरे में मिलती-जुलती आगे बढ़ती चली जा रही है। सच तो यह है कि तत्काल मुझे उसका 'अर्थ' भी स्पष्ट नहीं होता- बस इतना जरूर एहसास रहता है- ओर वह एहसास तीव्र होता है कि रचना मेरे अंतराल, मेरे पूरे व्यक्तित्व को अपनी अस्पष्ट और अटपटी शैली में ही सही-अभिव्यक्ति देती हुई चल रही है। उसमें एक रिद्म या गतिलय है जो मेरे अपने अंतर की तात्कालिक भावनात्मक गति और लय का रूप है। उसका 'अर्थ' उस समय किंचित भी महत्वपूर्ण नहीं है मेरे लिए। केवल उसकी तीव्र अनुभूति, और उस अनुभूति की सच्चाई ही मेरे लिए सब कुछ है।

मेरे अपने विशिष्ट रंग और शैली की अधिकांश कविताएं सब ऐसी ही हैं। मुझे उस दिवंगत गंभीर चिंतक साहित्यिक फिलासफर भले आदमी, वियजदेव नारायण साही की बात बरबस याद आ जाती है कि दरअसल एक ही कविता है जिसे शमशेर बार-बार रचते हैं। शब्द उनके ये नहीं हैं भाव यही है। इस माने में कि वह एक कविता मेरे आरंभिक वर्षों की भावुक अनुभूतियों को एक न समाप्त होने वाले नौस्टेल्जिया को ही व्यक्त करती है। अनेकानेक रूप आवरणों और नाटकीय संवादों और लिपिक मूर्त-अमूर्त टुकड़ों में...मूलतः आज से शायद पचास पैंतालीस या चालीस वर्ष पूर्व या कुछ बाद का भी शमशेर इन सारी कविताओं में, किसी न खत्म होने वाली फेंटसी के बदलते 'एक्टों' में और 'सीनों' में इन सारी कविताओं में अपनी धड़कन लिये चल रहा है। संदर्भ जो भी नूतन आते जाए वास्तविक सरोकार इन संदर्भों से उसे कोई नहीं है। है तो केवल काव्य के कलेवर के रूप में, काव्य की आत्मा के रूप में नहीं।

'जिंदगी का प्यार' या 'पत्रोत्तर'। पूर्वग्रह में छपी लंबी कविता। जैसी बहुत सी कविताएं वस्तुतः मेरे पुरातत्व का ही उत्खनन हैं। उनमें कोई एक पात्र नहीं, जो हैं अनेकों का कल्पना द्वारा सर्वथा नवीन रूप में पुनर्निमित संश्लिष्ट रूप है। उनमें काव्य का ही सत्य मात्र है। जिंदगी के बहुत से कोनों से उठाकर, एक में मिलाकर, पूर्वकल्पित रूप में प्रस्तुत किये गये जीवन के 'काव्य सत्य' हैं कह सकते हैं 'विशुद्ध काव्य सत्य'।

"वो शामिशिया" जिनमें तुम हो न हम हैं
मगर है हमारी तुम्हारी सदायें।

"ये हम और तुम" कोई दो व्यक्ति नहीं हैं, बहुत से "हम और तुम" हैं। उनके इतिहास विशेष का एक क्रम- जिस में अब ऐतिहासिक दृष्टि से देख रहा हूँ...किसी खामोश मंच पर। वे पात्र या चरित्र विशुद्ध रूप से कल्पना प्रसूत हैं। वो स्वयं कुछ नहीं, वो सजीव तड़पती हुई सी भावनाओं के एक इतिहास के प्रतीक-रूप हैं, केवल। छाया मात्र वह "सत्य" मेरे अंदर है। यह रंगमंच है। जहाँ केवल कवि सूत्रधार है और उसकी सुलगती हुई कल्पनाएँ। जीवन का "यथार्थ" यही केवल काव्य का "यथार्थ" है। यह काव्य मेरे आंतरिक जीवन का अविभाज्य अंग है। काव्य के यथार्थ से उसे बाहर लाकर कहीं "फिट करना" वस्तुतः रचना को ही नष्ट कर देना होगा।

7-8-84

उज्जैन (म.प्र.)

(महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय में रखी शमशेर जी के पांडुलिपि संग्रह से)

किताबों के आवरण पर टिप्पणियां :

ओरहान पामुक

■ अगर कोई साहित्यकार अपनी किताब बिना उसके आवरण का ख्वाब संजोए पूरी कर सकता है तो वह अक्लमंद, हरफनमौला और पूर्ण परिपक्व भले हो, मगर वह अपनी मासूमियत भी खो चुका होगा, जिसने प्रथमतया उसे साहित्यकार बनाया था।

■ जब तक हम उनके आवरण को भी याद न कर लें, हम अपनी सबसे पसंदीदा किताबों को याद नहीं कर सकते। हम सभी, और अधिक पाठकों को आवरण की वजह से किताबें खरीदते देखना पसंद करेंगे, तथा और अधिक आलोचकों को ऐसी किताबों से नफरत करते देखना जो उन पाठकों को ध्यान में रखकर लिखी गई हों। किताबों के आवरण पर नायकों का विस्तृत चित्रण न केवल उसके लेखक की कल्पना का अपमान है, बल्कि उसके पाठकों की कल्पना का भी।

■ जब डिजाइन यह तय करते हैं कि 'द रेड एंड ब्लैक' नाम की किताब पर लाल और काले रंग का आवरण होना चाहिए, या जब वे 'ब्लू हाउस' नामक किताब की सज्जा नीले रंग के मकान के चित्रों से करते हैं तो हम ऐसा नहीं सोचने लग जाते कि वे विषय वस्तु के प्रति ईमानदार हैं, बल्कि शंका करते हैं कि उन्होंने किताब पढ़ी भी है या नहीं।

■ अगर किसी किताब को पढ़ने के सालों बाद उसके आवरण की एक झलक मिल जाती है तो हम फौरन बहुत पहले के उस दौर में वापस पहुंच जाते हैं जब हम उस किताब के साथ, उसके भीतर छिपी दुनिया में प्रवेश पाने के लिए एक कोने में गुड़ी-मुड़ी बैठे हुए थे।

■ कामयाब आवरण, एक पाइप की तरह काम करते हुए हमें अपनी मामूली दुनिया से निकाल कर किताब की दुनिया के भीतर दाखिल करा देते हैं।

■ किताबों की कोई दुकान अपने आकर्षण के लिए किताबों के प्रति नहीं, बल्कि उनके आवरण की विविधता के प्रति ऋणी होती है।

■ किताबों के नाम लोगों की तरह होते हैं। वे एक किताब को अपने से मिलती-जुलती लाखों अन्य किताबों से अलग करने में हमारी मदद करते हैं। लेकिन किताबों के आवरण लोगों के चेहरों की तरह होते हैं। वे या तो हमें उस खुशी की याद दिलाते हैं जिसे हमने कभी महसूस किया था, या वे एक ऐसी मजेदार दुनिया का वादा करते हैं जिसे अभी हमें खोजना है। यही वजह है कि हम किताबों के आवरण को वैसी ही उत्कंठा से देखते हैं जैसे कि चेहरों को।

प्रस्तुति : मनोज पटेल